वर्ष 1 ▪ अंक 4 ▪ आश्विन-कार्तिक-मार्गशीर्ष, 5121 कलि. ▪ अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर, 2019 ई.

₹100/-

सभ्यता-संवाद

शिक्षा की भारतीय संकल्पना

भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति
डॉ. देवेन्द्र स्वरूप

शिक्षा : समाज और राज्य
डॉ. पवन शर्मा

एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकों की उपादेयता
डॉ. शैलेन्द्र कुमार

अंतरराष्ट्रीय नकल और भारतीयता से विमुख शिक्षा-नीति
रवि शंकर

भारतीय दृष्टिकोणयुक्त शिक्षा-नीति : उद्देश्य, स्वरूप व व्यवस्था
प्रो. विजय कुमार कौल

भारतीय शिक्षा की प्रतिष्ठापना
दिलीप केलकर

प्राचीन भारत में शिक्षा की संकल्पना एवं पाठ्यचर्या का स्वरूप
डॉ. प्रवीण कुमार तिवारी

सरल, व्यावहारिक और उपयोगी भारतीय गणित
डॉ. चन्द्रकान्त राजू

व्यक्तित्व : प्रो. सतीशचन्द्र मित्तल : एक बौद्धिक कर्मयोद्धा
गुंजन अगवाल

पुस्तक-समीक्षा : शिक्षा के औपनिवेशिक आख्यान को समझाती पुस्तक
अमनदीप वसिष्ठ

एन.सी.ई.आर.टी.-समीक्षा : भोजन के विज्ञान से अनभिज्ञ विज्ञान की पुस्तक
रवि शंकर

● सभ्यता अध्ययन केन्द्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका ●

॥ वयं राष्ट्रे जागृयाम् पुरोहिताः ॥

सभ्यता-संवाद

सभ्यता अध्ययन केन्द्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष 1] आश्विन-कार्तिक-मार्गशीर्ष, 5121 कलि. : अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर, 2019 ई. [अंक 4

सम्पादक

रवि शंकर

•

कार्यकारी सम्पादक

गुंजन अग्रवाल

सभ्यता अध्ययन केन्द्र

नयी दिल्ली

सभ्यता-संवाद

वर्ष 1, अंक 4, आश्विन-कार्तिक-मार्गशीर्ष, 5121 कलि.
अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर, 2019 ई.

मार्गदर्शक-मण्डल
डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय   श्री सुबोध कुमार   प्रो. रामेश्वर प्रसाद मिश्र 'पंकज'
प्रो. राजकुमार भाटिया   डॉ. आनन्द बर्धन

●

सम्पादकीय सलाहकार
आशुतोष भटनागर   ऋतेश पाठक   डॉ. विवेक भटनागर

●

सम्पादक
रवि शंकर

●

कार्यकारी सम्पादक
गुंजन अग्रवाल

●

सह सम्पादक
धीप्रज्ञ द्विवेदी   भानु कुमार   ममता रानी   स्वाती शाकम्भरी

●

प्रबन्ध सम्पादक
जगत मोहन   श्यामसुन्दर तिवारी

●

प्रचार-प्रसार प्रमुख
शुभ्रा सिंह (मो.: 09017831916)

●

सम्पादकीय कार्यालय
सभ्यता अध्ययन केन्द्र
बी 14, गली-नं. 13, वज़ीराबाद गाँव, दिल्ली-110084
दूरभाष : 9899588033, 9654669293; ई-मेल : sabhyatasamvad@gmail.com
फेसबुक : https://www.facebook.com/sabhyatasamvad/

'सभ्यता-संवाद' में प्रकाशित निबन्धों में प्रतिपादित विचारों और तथ्यों का उत्तरदायित्व निबन्ध-लेखकों का है और उनसे सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली/नयी दिल्ली-स्थित सक्षम अदालतों और मंचों के क्षेत्राधिकार के अधीन है।

प्रकाशक **सभ्यता अध्ययन केन्द्र** के लिए स्वामी **रवि शंकर** द्वारा बी-14, गली-नं. 13, वज़ीराबाद गाँव, दिल्ली-110084 से प्रकाशित एवं प्रिंट-वे, 182, एफआईई, पटपड़गंज, इण्डस्ट्रियल एरिया, नयी दिल्ली-110 092 से मुद्रित।

इस अंक में...

सम्पादकीय *(vi)*

पुनर्पाठ : 9

- **भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति**
  डॉ. देवेन्द्र स्वरूप

विमर्श :

- **शिक्षा : समाज और राज्य** 29
  डॉ. पवन शर्मा
- **एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकों की उपादेयता** 34
  डॉ. शैलेन्द्र कुमार
- **अंतरराष्ट्रीय नकल और भारतीयता से विमुख शिक्षा-नीति** 41
  रवि शंकर
- **भारतीय दृष्टिकोणयुक्त शिक्षा-नीति : उद्देश्य, स्वरूप व व्यवस्था** 49
  प्रो. विजय कुमार कौल
- **भारतीय शिक्षा की प्रतिष्ठापना** 55
  दिलीप केलकर
- **प्राचीन भारत में शिक्षा की संकल्पना एवं पाठ्यचर्या का स्वरूप** 61
  डॉ. प्रवीण कुमार तिवारी
- **सरल, व्यावहारिक और उपयोगी भारतीय गणित** 67
  डॉ. चन्द्रकान्त राजू

व्यक्तित्व : 78

- **प्रो. सतीशचन्द्र मित्तल : एक बौद्धिक कर्मयोद्धा**
  गुंजन अगवाल

पुस्तक-समीक्षा : 81

- **शिक्षा के औपनिवेशिक आख्यान को समझाती पुस्तक**
  अमनदीप वसिष्ठ

एन.सी.ई.आर.टी.-समीक्षा : 87

- **भोजन के विज्ञान से अनभिज्ञ विज्ञान की पुस्तक**
  रवि शंकर

समाचार 93

सम्पादकीय

भारतीयता और जड़ों से जुड़ी शिक्षा ही हो सकेगी रोज़गारपरक

देश की वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में कमियों की चर्चा कोई नयी बात नहीं है। स्वाधीनता के पहले से ही स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, लाल-बाल-पाल से लेकर महात्मा गाँधी तक देश के सभी राष्ट्रवादी नेतागण इस शिक्षा-व्यवस्था के विरोध में रहे हैं। इसके बाद भी स्वाधीनता के बाद इस शिक्षा-व्यवस्था को बदला नहीं गया। इसको बदलना तो दूर, इसे और मज़बूत करने के लिए देश की सरकारें प्रयत्नशील रहीं। स्वाधीनता के बाद से आज तक इस पर देश में ढेर सारी चर्चा होती है, लोग इसका विकल्प ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं, पत्रकार और लेखक इसकी कमियों के बारे में लिखते हैं, सरकारें इसे ठीक करने के लिए आयोग बनाती हैं, आयोग सिफ़ारिशें देते हैं, शिक्षाविद् संगोष्ठियाँ करते हैं, परन्तु यह शिक्षा-व्यवस्था निरन्तर चली आ रही है। इसलिए इस अंक में हमने इस शिक्षा-व्यवस्था की पड़ताल करने का प्रयास किया है।

इस शिक्षा-व्यवस्था में ढेरों कमियाँ गिनाई जा सकती हैं। भ्रष्टाचार, पाठ्यक्रम, बच्चों के भारी बस्ते, सुदूर प्रदेशों में अनुपलब्धता, शिक्षा का गिरता स्तर, आदि आदि। परन्तु इसकी प्रमुख कमियाँ मेरे विचार में तीन हैं। पहली कमी है कि यह शिक्षा लोगों को बेरोज़गार बनाती है। यह निश्चय ही हैरान करनेवाली बात है। अक्सर इस शिक्षा-व्यवस्था पर आरोप लगाया जाता है कि यह शिक्षा-व्यवस्था केवल भौतिकवादी है, केवल धनोपार्जन की शिक्षा देती है, लोगों को चरित्र की शिक्षा न देकर केवल नौकरी प्राप्त करने का उपाय बताती है। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाए, तो यह शिक्षा लोगों को बेरोज़गार बनाती है। इसे समझना हो, तो हमें थोड़ा ग्रामीण पृष्ठभूमि का ध्यान करना पड़ेगा। विचार करें, एक गाँव के विद्यालय में कैसे परिवारों के बच्चे पढ़ाई करते हैं? गाँवों में अधिकांश ग्रामीण परिवार या तो किसान होते हैं या फिर कारीगर आदि। उनके बच्चे जब पढ़ने जाते हैं, तो उनकी शिक्षा में उनके पारिवारिक व्यवसाय से सम्बन्धित कोई जानकारी नहीं होती। जो जानकारी होती भी है, वह केवल सैद्धान्तिक होती है। साथ ही इस शिक्षा में लगभग कामों को हेय दृष्टि से देखा जाता है। उदाहरण के लिए नर्सरी के स्तर से ही बच्चों को एक अध्याय 'अवर हेल्पर' यानी हमारे सहायक पढ़ाया जाता है। जितने भी कारीगर हैं, वे सभी हमारे सहायक हैं। मोची, बढ़ई, लुहार, धोबी, दर्जी आदि आदि सभी हमारे सहायक हैं। इससे बच्चे के अवचेतन मन में यह प्रभाव पड़ता है कि ये तो सहायक हैं, वह इनसे कुछ भिन्न है और भिन्न ही रहना है। यानी इस शिक्षा को लेकर आगे बढ़नेवाला बच्चा जीवन में कभी इन कामों को करने के बारे में नहीं सोच सकता। तो, गाँव के बढ़ई, लुहार, मोची, बुनकर, धोबी, दर्ज़ी, रंगरेज़, राजमिस्त्री आदि के बच्चे वह पढ़ाई पढ़ते हैं, जो उन्हें उनके पिता के रोज़गार को हीन बताती है और उसको उससे विमुख करती है। स्वाभाविक ही है कि वह बच्चा इस शिक्षा-व्यवस्था में पलते-बढ़ते हुए बेरोज़गार ही बनेगा। देश की बेरोज़गारी की समस्या का प्रमुख कारण यही है। यह शिक्षा-व्यवस्था प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में बेरोज़गारों को पैदा करती है, जो सरकार के सामने हाथ फैलाकर खड़े हो जाते हैं कि हमें नौकरी दो। शिक्षित युवा अपनी शिक्षा का उपयोग करके आजीविका पैदा करने के योग्य ही नहीं होता। इसलिए आज देश में कौशल विकास की बात करनी पड़ रही है। 12-16 वर्ष की पढ़ाई करने के बाद भी यदि कौशल विकास करना पड़ रहा है तो शिक्षा-व्यवस्था की इससे बड़ी असफलता और क्या हो सकती है!

इस शिक्षा-व्यवस्था की दूसरी बड़ी कमी है कि यह लोगों को ख़ानाबदोश बनाती है। यह बात थोड़ी अज़ीब-सी प्रतीत हो सकती है। लोग ख़ानाबदोश कैसे हो रहे हैं और उनके ख़ानाबदोश होने का आख़िर शिक्षा से क्या सम्बन्ध है? इस शिक्षा से बेरोज़गार हुए लोग नौकरी की तलाश में ख़ानाबदोश हो जाते हैं। अधिकांश शिक्षित लोगों को उनके अपने गाँव या शहर में उनको मिली शिक्षा के अनुसार नौकरी मिलती नहीं है। तो उन्हें अपना गाँव और शहर छोड़कर बाहर निकलना पड़ता है। इसको ही ख़ानाबदोशी कहते हैं। गाँव में रहनेवाला एक व्यक्ति पढ़-लिखकर नौकरी की तलाश में शहर आता है, उसका पुत्र पढ़-लिखकर नौकरी की तलाश में पिता के शहर को छोड़कर उससे बड़े शहर में जाता है, उसका पुत्र पढ़-लिखकर अपने पिता के शहर को छोड़ कर मेट्रोपोलिटन शहरों की ओर बढ़ता है और उसका पुत्र पढ़-लिखकर नौकरी के लिए या तो देश के किसी और शहर में अथवा विदेश जाने के लिए विवश होता है। स्थिति यह बनती है कि जो जिस गाँव या शहर का होता है, उसे उस गाँव या शहर में इस शिक्षा के कारण काम नहीं मिलता। फलतः वह ख़ानाबदोश जीवन जीने के लिए विवश हो जाता है। इसके अनेक समाजशास्त्रीय दुष्परिणाम होते हैं जो कि इस लेख और अंक का विषय नहीं है। परन्तु उन समाजशास्त्रीय दुष्परिणामों के कारण ही देश में आज हत्या और बलात्कार-जैसे जघन्य अपराध बढ़ रहे हैं, लोगों में असुरक्षा की भावना बढ़ रही है, तनाव और अवसाद आधुनिक जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन गए हैं और पूरा देश जीवनशैलीजन्य बीमारियों की चपेट में है।

इस शिक्षा-व्यवस्था की तीसरी प्रमुख कमी है कि यह लोगों को अभारतीय बनाती है, उन्हें अपने देश के ही प्रति हीन भावना से परिपूर्ण करती है। यह बात भी लोगों को थोड़ी अज़ीब-सी प्रतीत हो सकती है। आख़िर किसी भी पाठ्यपुस्तक में भारत के प्रति कोई सीधी नकारात्मक बात तो लिखी नहीं होतीं, फिर यह अभारतीय कैसे बनाती है? इसे समझने के लिए हमें यह जानना होगा कि शिक्षा वास्तव में होती क्या है। आचार्य चाणक्य के शब्दों में कहें तो शिक्षा 'वृद्ध संवाद' होती है। 'वृद्ध संवाद' का अर्थ होता है देश के वृद्धों यानी प्राचीन आचार्यों के विचार। भारत की शिक्षा-व्यवस्था में भारतीय मनीषियों और आचार्यों का नगण्य स्थान है। उनका जो थोड़ा-बहुत उल्लेख पाया भी जाता है, वह उन्हें यूरोपीय वृद्धों से कमतर ही दिखाने के लिए किया जाता है। विज्ञान के नाम पर केवल यूरोपीय सिद्धान्तों और समीकरणों की शिक्षा दी जाती है। विज्ञान के इतिहास में केवल यूरोपीय लोगों के नाम पढ़ाए जाते हैं। इतिहास, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, भूगोल, खगोलशास्त्र, शिक्षा मनोविज्ञान, पादपविज्ञान, जंतुविज्ञान, गणित आदि सभी विषयों में यह शिक्षा-व्यवस्था केवल और केवल पिछले 3-4 शताब्दियों में हुए यूरोपीय विचारकों, विज्ञानियों आदि को ही पढ़ाती है। ऐसे में कोई भी छात्र अपने देश को लेकर हीन भावना से ही भर जायेगा। अपने देश का चित्रण आज की शिक्षा-व्यवस्था में ऐसा किया जाता है, जैसे अपने देश में स्त्री, निम्न वर्ग आदि हमेशा दबे-कुचले रहे हैं, यह देश हमेशा शोषकों का देश रहा है, ग़रीबी और अशिक्षा इस देश का इतिहास रही है, वैज्ञानिक पिछड़ापन ही हमारी विरासत रही है।

इसलिए यदि देश की शिक्षा-व्यवस्था को सुधारने की बात हो तो हमें इन तीनों कमियों को सामने रख कर ही विचार करना पड़ेगा। इसे ठीक करने का क्रम उलटा रखना होगा। यानी पहले इसे भारतीयता से परिपूर्ण करना होगा। फिर यह चिन्ता करनी होगी कि कोई भी व्यक्ति शिक्षित होने के बाद अपने गाँव या शहर को छोड़ने के लिए विवश न हो। उसे शिक्षित होने के बाद अपना काम खड़ा करने का स्वाभिमान और कौशल– दोनों ही मिल सकें और इससे रोज़गार तो उसे स्वाभाविक रूप से ही मिल जायेगा।

(रवि शंकर)

पुनर्पाठ

भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति*

डॉ. देवेन्द्र स्वरूप**

भारत में ब्रिटिश शासन की शिक्षा नीति के विकास एवं स्वरूप की समझने के लिये उनके राज्यविस्तार के विभिन्न चरणों में उनकी विवशताओं एवं राजकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस दृष्टि से उनकी शिक्षा-नीति के विकास को कालक्रम से तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) 1772 से 1819 तक
(ख) 1819 से 1835 तक
(ग) 1835 के पश्चात्

प्रथम चरण (1819 ईसवी तक)

अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। आरम्भ में उनका राज्य उत्तर में बंगाल और बिहार तथा दक्षिण में पूर्वी समुद्र तट पर मद्रास के आसपास तक सीमित था। किन्तु लार्ड वेलेज़ली के कार्यकाल में 1804 ई. तक उड़ीसा, आन्ध्र, तमिळनाडु, केरल व कर्नाटक का अधिकांश प्रदेश तथा उत्तर में अवध के छोटे से राज्य को छोड़कर सतलुज नदी तक का पूरा क्षेत्र उनके अधिकार में आ गया। इस राज्य-विस्तार के साथ उनके सामने निम्नलिखित समस्याएँ खड़ी हुईं :

1. प्रत्येक जीते हुए प्रदेश में उन्होंने भारत की परम्परागत शिक्षा-व्यवस्था का ताना-बाना गाँव-गाँव में बिछा हुआ पाया। भारत 'सबके लिये शिक्षा' के आदर्श को लेकर चल रहा था जबकि इंग्लैण्ड में शिक्षा की सुविधा एक बहुत छोटे वर्ग को ही उपलब्ध थी। भारत में प्रत्येक राजा व नवाब, ज़मींदार व रईस शिक्षा प्रसार में योगदान करना अपना पवित्र कर्तव्य समझता था, प्रत्येक शासक ने राज्य की ओर से शिक्षा की प्रगति के लिये करमुक्त ज़ागीरें, वार्षिक अनुदान निर्धारित किये हुए थे, जबकि इंग्लैण्ड में शासन शिक्षा के प्रति पूर्णतः उदासीन था और शिक्षा देने का कार्य ईसाई चर्च पर छोड़ दिया गया था। इसलिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सामने पहली समस्या यह आयी कि इस विशाल परम्परागत शिक्षातन्त्र के प्रति वह क्या नीति अपनाये, पूर्ववर्ती भारतीय शासकों के उत्तराधिकारी के रूप में उन्हें राज्य की ओर से प्रदत्त आर्थिक सहायता एवम् अन्य प्रकार के प्रोत्साहन को जारी रखें या नहीं?

* मंथन, वर्ष 6, अंक 1, मार्च 1985 में प्रकाशित

** डॉ. देवेन्द्र स्वरूप (1926-2019); प्रख्यात इतिहासकार; पूर्व निदेशक, दीनदयाल शोध संस्थान, दिल्ली; पूर्व सम्पादक, 'पाञ्चजन्य' (हिंदी-साप्ताहिक); सेनानिवृत्त उपाचार्य, इतिहास-विभाग, पी.जी. डी.ए.वी. कॉलेज़, दिल्ली

2. दूसरा प्रश्न था कि इन नवविजित प्रदेशों का शासन-प्रबन्ध अंग्रेज़ी हाथों में केन्द्रित रखते हुए ठीक प्रकार से कैसे चलाया जाय? न्याय-प्रणाली व राजस्व-व्यवस्था के पूराने तन्त्र में आमूल-चूल परिवर्तन कर पाना तब तक उनके लिये सम्भव नहीं था। और नये अंग्रेज़ अधिकारी इस पुरानी पद्धति से पूर्णतया भिज्ञ नहीं थे। प्रशासन का कार्य मुख्यतया फ़ारसी भाषा में चलता था। हिंदू-विधि का ज्ञान संस्कृत-भाषा के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता था। समूचे देश में फ़ारसी और संस्कृत-भाषाओं पर अधिकार रखनेवाला एक विशाल वर्ग भारतीय समाज में मौजूद था, जिसके द्वारा शासन-तन्त्र भी विभिन्न राज्यों में चल रहा था। इस पुराने सत्ताधारी वर्ग को हटाकर सत्ता के समस्त महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर अंग्रेज़ स्वयं को बैठाते जा रहे थे। अतः उनके लिये आवश्यक हो गया था कि वे ऐसी रचना खड़ी करें जिसमें वे भारतीय भाषाओं में विद्यमान जानकारी को स्वयं प्राप्त कर सकें; साथ ही भारतीय विद्वानों का ऐसा वर्ग उनके चारों ओर खड़ा हो सके जो सत्ता में हिस्सा बँटाये बिना शासन-कार्य में उन्हें आवश्यक बौद्धिक सहयोग प्रदान कर सके।

3. भारत उस समय शिक्षा तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ा हुआ था। इटली, पुर्तगाल, हॉलैण्ड, फ्रांस एवं जर्मनभाषी प्रदेशों में संस्कृत एवं उसकी ज्ञान-सम्पदा के प्रति भारी कौतूहल जगा हुआ था। इन सभी देशों में भारतीय भाषाओं एवं ज्ञान-विज्ञान का गम्भीर अध्ययन किया जा रहा था। सभी भाषाओं में भारत-सम्बन्धी यात्री एवं गवेषणात्मक साहित्य विपुल मात्रा में निर्माण हो गया था। इसका अनुमान इस एक तथ्य से लगाया जा सकता है कि 1784-86 में एक डेनिश विद्वान **आगस्ट हेनिंग्र** ने भारत के बारे में एक पुस्तक तीन खण्डों में प्रकाशित की, जिसके अन्त में उन्होंने विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध भारत-सम्बन्धी 1,372 प्रकाशनों की सूची भी दी। कैसा विचित्र संयोग है कि जो इंग्लैण्ड उस समय शिक्षा एवं ज्ञान के क्षेत्र में अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा कहीं अधिक पिछड़ा हुआ था, उसे ही भारत--जैसे सुशिक्षित देश पर साम्राज्य-स्थापना का सुअवसर प्राप्त हो गया। स्वाभाविक ही भारत की इस बौद्धिक समृद्धि के सम्पर्क में आनेवाले प्रारम्भिक ब्रिटिश शासक हीन भावना से भर गये और भारतीय श्रेष्ठता के प्रति श्रद्धा से अभिभूत हो गये। दूसरी ओर शासक-स्थिति में आने के पश्चात् सहजता से प्राप्त होनेवाला भारतीय धन-वैभव भी उन्हें प्रलोभित कर रहा था।

ब्रिटेन की यह चिन्ता सन् 1782 में ब्रिटिश पार्लियामेंट के समक्ष विलियम पिट के इन शब्दों में प्रकट हुई थी :

> ''हमारे क़ानून ने बड़ी सावधानीपूर्वक यह व्यवस्था की है कि कोई भी विदेशी हमारी संसद में किसी प्रतिनिधि के लिए एक वोट का भी इस्तेमाल न करने पाये। किन्तु हम देख रहे हैं कि विदेशी नरेश वोट तो नहीं दे रहे, पर इस सदन में सीटें खरीद रहे हैं और अपने एजेण्टों को हमारे साथ राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में बैठने के लिए भेज रहे हैं। मेरा इशारा किस ओर है इसमें किसी को सन्देह नहीं होगा। हमारे बीच तंजौर के राजा और अर्काट के नवाब-जैसे पूर्वी नरेशों के प्रतिनिधि बैठे हुए हैं। यह बात सबको पता है, जगह-जगह इसकी चर्चा होती है, किन्तु उसे अनसुना कर दिया जाता है। हमारी शर्म खुलेआम विदेशों में बिक रही है, किन्तु यह बात अब इतनी आम हो गई है कि यह सुनकर भी कोई नहीं चौंकता कि हमारे सीनेटर अब ब्रिटिश नैतिकता के नहीं बल्कि पूरब के दुर्गुणों और भ्रष्टाचार के प्रतिनिधि बन गये हैं।''[1]

ब्रिटिश शासकों पर भारत की सांस्कृतिक छाप की साक्षी देते हुए सुप्रसिद्ध साम्राज्यवादी विचारक सर जान सीले ने सन् 1880 में अपने हिब्बर्ट भाषणमाला के दौरान कहा था :

> ''यह भी स्वीकार करने को लोग तैयार नहीं थे कि इंग्लैण्ड को अपने साम्राज्य में रोम-जैसी भूमिका निभाना है। नहीं, कहा जाता था कि इंग्लैंड को अपनी सभ्यता को किनारे रखकर भारतीय विचारों के अनुसार ही शासन चलाना चाहिए। जैसे-जैसे संस्कृत के ज्ञान का भण्डार का नया और रहस्यमय जगत् एंग्लो-इण्डियनों की प्रारम्भिक पीढ़ियों के सामने उद्घाटित हो रहा था, वैसे-वैसे इस विचार की पकड़ और भी मज़बूत होती जा रही थी। वे लोग एक लुभावने दर्शन और एक विलक्षण इतिहास के सम्मोहन में फँस गये थे। जैसा कि उन दिनों कहा जाता था, उन लोगों का पूर्ण ब्राह्मणीकरण हो गया था और वे पौर्वात्य जादू की बन्दी बनी अपनी दुनिया में ईसाई धर्म या पश्चिम के ज्ञान को प्रवेश देने के किसी सुझाव को सुनने तक के लिए तैयार नहीं होते थे।''[2]

ऐसी हीन भावना से भरा हुआ भ्रष्ट शासक वर्ग एक विदेशी जाति पर कठोर एवं शोषणकारी शासन का सफल उपकरण कैसे बन सकता था? यदि भारत पर शासन करना है तो इस हीन भावना पर विजय पाना ही होगा। पर उसका उपाय क्या हो?

4. सात समुन्दर पार हज़ारों मील दूर स्थित इस विशाल समृद्ध सभ्य और ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण देश पर ब्रिटिश शासन को चिरस्थायित्व कैसे प्राप्त हो? इस देश की मिट्टी में ब्रिटेन की जड़ें कैसे गहरी और पक्की हों?

देशी शिक्षा-व्यवस्था की हत्या

इन मज़बूरियों में से शिक्षा नीति के प्रथम चरण का जन्म हुआ। जहाँ तक भारत की देशी शिक्षा-प्रणाली का सम्बन्ध है, प्रारम्भिक ब्रिटिश शासकों ने उसकी पूर्ण उपेक्षा करने की नीति अपनायी। क्योंकि ब्रिटेन के सामने उस समय न तो सार्वजनीन शिक्षा का आदर्श मौजूद था और न ही वहाँ की सरकार शिक्षा के प्रति अपना कोई कर्तव्य समझती थी। अत; भारत से अधिक-से-अधिक धन बटोरने के लोभी ब्रिटिश शासनाधिकारियों ने शिक्षा के लिए पुराने भारतीय शासकों द्वारा दी जानेवाली राजकीय सहायता को राजकोष का अपव्यय माना और उन्होंने पुराने शासकों द्वारा स्वीकृत अधिकांश भूमिदानों एवम् आर्थिक अनुदानों को समाप्त कर दिया। पोषणरस मिलना बन्द होते ही देशी शिक्षा का वह हरा-भरा वृक्ष धीरे-धीरे सूखने लगा। लगभग पचास वर्ष बाद इस तथ्य को स्वीकार करते हुए गवर्नर जनरल लॉर्ड मिण्टो ने 06 मार्च, 1811 को अपनी एक टिप्पणी में लिखा था : 'यह आम चर्चा है कि भारत के निवासी शिक्षा और साहित्य की दृष्टि से निरन्तर गिरते जा रहे हैं। इस रोचक विषय पर अपनी ओर से पूर्ण छानबीन करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह कथन बिल्कुल सही है... भारत में शिक्षा और साहित्य की वर्तमान दुरावस्था का मुख्य कारण उस आर्थिक आधार का छिन जाना है जो उसे पूर्वकाल में देशी शासन के अन्तर्गत राजाओं, सामन्तों एवम् अन्य धनिकों की ओर से प्राप्त होता था। विद्यार्जन और साहित्यिक साधना की प्रेरणा देने में ऐसे आर्थिक सहयोग का हमेशा बड़ा योगदान रहता आया है, विशेषकर भारत जैसे देश में, जहाँ शिक्षा की साधना करनेवालों की जीविका का इसके अतिरिक्त और कोई साधन या सहारा नहीं है।'[3]

बनारस, तिरहुत और नदिया-जैसे प्रमुख विद्याकेन्द्रों को पूर्वकाल से राजाओं व ज़मीन्दारों

द्वारा दी जानेवाली प्रभूत आर्थिक सहायता, और अब उस सहायता के प्रभाव में वहाँ भी ज्ञान-सरिता के सूखने का उल्लेख करते हुए लॉर्ड मिण्टो ने आत्मभर्त्सना के स्वर में लिखा है– 'यह बड़ी ग्लानि की बात है कि जो राष्ट्र अपने साम्राज्य के अन्य भागों में शिक्षा और ज्ञान के विकास के लिये अपने सफल प्रयासों के लिये ख्याति अर्जित कर रहा है, वही राष्ट्र हिंदुओं की शिक्षा व साहित्य को पोषणरस देने से असफल रहा है और भारत के ज्ञान-भण्डार को यूरोप के जिज्ञासु विद्वानों के लिये खोलने में कोई सहायता नहीं दे रहा है।'

अगले गवर्नर जनरल लॉर्ड मोयरा ने भी 03 अक्टूबर, 1815 को कोर्ट ऑफ डायरेक्टरों के नाम अपनी एक टिप्पणी में लिखा : 'जनता की शिक्षा के उद्देश्य के प्रति देशी सरकारें पूरा ध्यान देती थीं, इसका प्रमाण है करमुक्त भूमि एवम् आर्थिक सहायता के वे अनुदानपत्र जो सार्वजनिक शिक्षा-संस्थाओं एवं अलग-अलग प्रकार की शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों की सहायता के लिये जारी किये गये थे।'

आगे वह लिखता है: 'धर्म स्थानों एवं शिक्षा-केन्द्रों की इस गिरावट के हमारे कई मजिस्ट्रेट भी साक्षी हैं। ऐसे सभी देशों लोग, जो अपने कुल या शिक्षा के कारण समाज की स्थिति अथवा अनुशासन के प्रति चिन्तित रहते हैं, नैतिकता के ह्रास के लिए हमें दोषी ठहरा रहे हैं।... भले ही नये क़ानून बनाते समय हमारा उद्देश्य यह नहीं रहा हो; किन्तु हमारी शासन-प्रणाली का ऐसा परिणाम हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह परिणाम निकलने का एक कारण यह भी है कि हमने देश की मौजूद संस्थाओं को सहारा देने के लिए कोई निश्चित क़ानूनी व्यवस्था नहीं की।'[4]

भारतीय शिक्षा के प्रति इस उपेक्षा नीति के फलस्वरूप जो गहरा असन्तोष फैल रहा था, जिसकी ध्वनि लॉर्ड मिण्टो और लॉर्ड मोयरा की उपर्युक्त टिप्पणियों में विद्यमान है; उससे डरकर ही ब्रिटिश पार्लियामेंट ने सन् 1813 के चार्टर एक्ट में बंगाल के गवर्नर जनरल को आदेश दिया था कि भारतीय राजस्व में से एक लाख रुपये तक की राशि प्रतिवर्ष भारतीय शिक्षा एवं साहित्य के विकास पर खर्च की जाय, किन्तु साथ ही यह शर्त भी लगा दी थी कि सभी प्रशासनिक एवं सैनिक-व्यय को पूरा करने के बाद यदि कुछ शेष बचे, तभी शिक्षा पर कोई राशि खर्च की जाय। फलतः 1823 तक इस निर्धारित राशि में से एक भी पैसा शिक्षा पर खर्च नहीं किया गया। स्पष्ट ही 1813 का निर्णय भारतीय शिक्षा के विकास के प्रति सच्चे उत्साह में से नहीं जन्मा था, अपितु लोकनिन्दा के भय से लिया गया था। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए बम्बई प्रेसीडेंसी के पहले गवर्नर **लॉर्ड माउण्ट स्टुअर्ट एलफिंन्स्टन** ने 13 दिसम्बर, 1823 को शिक्षा नीति-सम्बन्धी अपनी लम्बी टिप्पणी में लिखा था : 'हमारी भारतीय सरकार के विरुद्ध यह आरोप लगाया लाता है कि पूर्व की रियासतों को हजम करके हमने उन सब स्त्रोतों का मुँह बन्द कर दिया जो इस देश की भव्यता के आधार थे और कि हमने स्वयं एक भी ऐसा काम खड़ा नहीं किया है जो उपयोगी हो अथवा भव्य हो। यह आरोप और भी अधिक उचित है कि हमने देशी प्रतिभा की गंगोत्री की सुखा दिया है और हमारी विजय के परिणामस्वरूप न केवल ज्ञान की प्रगति के लिये प्राप्त होनेवाला राजकीय सहयोग वापस ले लिया गया है, बल्कि राष्ट्र की पुरानी ज्ञान-सम्पदा भी तृप्त होने व उसकी पूर्व-मनीषा के विस्मृत होने की भी सम्भावना पैदा हो गई है। इस आरोप के निराकरण के लिये कुछ इन्तज़ाम अवश्य किया जाना चाहिये। सम्भवतः ऐसे ही कारणों ने संसद को भारत सरकार पर यह बन्धन लगाने की प्रेरणा दी होगी कि राजस्व का कुछ अंश शिक्षा की उन्नति पर भी खर्च किया जाय।'[5]

सन् 1813 के चार्टर एक्ट के पश्चात् ब्रिटिश अधिकारियों के द्वारा भारतीय शिक्षा पद्धति का गुणगान, उसकी जर्जर अवस्था के प्रति सहानुभूति-प्रदर्शन एव प्राण-संचार के लिये राजकीय प्रयासों की आवश्यकता का शब्दिक आलाप तो आरम्भ हो गया, किन्तु उस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया

गया। 03 जून, 1814 को कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स ने गवर्नर जनरल लार्ड मोयरा के नाम एक पत्र में पहली बार अधिकारी स्तर पर भारतीय शिक्षा-पद्धति और ज्ञान की श्रेष्ठता को स्वीकार किया। पत्र में कहा गया कि भारत की ग्रामीण पाठशालाओं में अनादि काल से चली आ रही शिक्षण पद्धति का ही अनुकरण करके इंग्लैण्ड में शिक्षा की राष्ट्रीय पद्धति का विकास किया गया है। उन्होंने लिखा कि 'भारत की शिक्षा-व्यवस्था अनेक उथल-पुथल के बीच भी टिकी रही है और बहुत उपयोगी है। ग्राम-शिक्षकों को वहाँ के समाज में बहुत श्रद्धा के साथ देखा जाता है। अतः इस अध्यापकों को समय-समय पर सम्मानित किया जाना चाहिये। इन पाठशालाओं की वर्तमान दशा के बारे में पूरी जानकरी एकत्र कर हमें भेजी जाय। हिंदू समाज में विशेषकर मराठों के मन में बनारस के प्रति बहुत आदर भाव होने के कारण उसकी ओर विशेष ध्यान दिया जाय। बनारस-स्थित अपने प्रतिनिधि को आदेश दिया जाय कि वह उस नगरी में अभी भी विद्यमान प्राचीन शिक्षा-केन्द्रों के बारे में पूरी जानकारी अपको भेजें, कि उनमें विज्ञान और साहित्य की कौन-सी शाखाएँ आजकल पढ़ाई जा रही हैं; शिक्षकों और आचार्यों का भरण-पोषण कहाँ से होता है और इन वर्तमान संस्थाओं को अधिक लाभकारी बनाने के लिए उनमें क्या सुधार किये जा सकते हैं।'[6]

भारतीय ज्ञान की श्रेष्ठता एवम् उपयोगता को स्वीकार करते हुए कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स के उस पत्र में कहा गया, 'हमें जानकारी दी गयी है कि संस्कृत भाषा में नीतिशास्त्र, आचारसंहिता एवं हर वर्ग के लोगों के कर्त्तव्यों का संग्रह उपलब्ध है। इस सामग्री का अध्ययन उन भारतीयों के लिए उपयोगी रहेगा जो सरकार के न्याय विभाग में काम करना चाहें। हमें यह भी बताया गया है कि संस्कृत -भाषा में वनस्पति और औषधियों के गुण व उनका चिकित्सा में प्रयोग बतानेवाले भी बहुत-से ग्रन्थ हैं। ग्रन्थों का ज्ञान योरोपीय चिकित्सकों के बहुत काम आ सकता है। वहाँ ज्योतिर्विज्ञान और गणित, ज्योमेट्री व अलजेब्रा आदि पर भी अनेक ग्रन्थ हैं, जो भले ही नयी रोशनी न दे पायें, किन्तु वे वेधशाला एवम् इंजीनियरिंग विभाग में काम करनेवाले अंग्रेज़ कर्मचारियों व भारतीयों के बीच सम्पर्क का माध्यम बन सकते हैं और इस सम्पर्क के फलस्वरूप भारतीयों का विज्ञान की उन व अन्य शाखाओं में आधुनिक संशोधनों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है।'

पत्र में गवर्नर जनरल को आदेश दिया गया कि उपर्युक्त अनेक उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए हमने तय किया है कि किसी भी विभाग में काम करनेवाले कर्मचारियों को जो संस्कृत-भाषा का अध्ययन करने में रुचि प्रदर्शित करें, पूरा प्रोत्साहन दिया जाय और इस हेतु से आपकी अनुमति से जिन अध्यापकों को नियुक्त किया जाय, उनका चयन विज्ञान के विषयों में अधिकार रखनेवाले भारतीय विज्ञानों में से किया जाय तथा उन्हें यथेष्ट पारिश्रमिक दिया जाय।'

कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के इस पत्र को प्राप्त करनेवाले गवर्नर जनरल लार्ड मोयरा ने 02 अक्टूबर, 1815 को न्याय प्रशासन-सम्बन्धी अपनी टिप्पणी में भारत में शिक्षा के प्रसार में ग्राम-शिक्षकों के भारी योगदान को स्वीकार करते हुए लिखा कि 'ब्रिटिश सरकार को भी इसी शिक्षा-व्यवस्था का सुधार और विस्तार करना चाहिए।' उन्होंने लिखा कि 'लगातार युद्धों और नये-नये प्रदेशों को जीतने में लगे रहने के कारण हम अब तक अपने अधिकारक्षेत्र में आनेवाली प्रजा की नैतिक दशा की ओर ध्यान नहीं दे पाये, किन्तु अब हमें यह करना चाहिए। पुरानी शिक्षा-व्यवस्था की जो भी संस्थाएँ अभी शेष बची हैं और जिन्हें उनके पुराने स्तर पर वापस पहुँचाना सम्भव है, सरकार को उनके सुधार के लिए प्रयास करना चाहिए।'[7]

उन्होंने सुझाव दिया कि 'शिक्षा में सुधार के बारे में विचार करने के लिए ढाका, पटना, मुर्शिदाबाद, बनारस, बरेली तथा फ़रुखाबाद-जैसे प्रमुख केन्द्रों पर रहनेवाले ब्रिटिश अधिकारियों की

समितियाँ गठित की जायें और उनके सुझावों को राज्य के राजस्व एवं न्यायिक विभागों के वरिष्ठ एवम् अनुभवी अधिकारियों के विचारार्थ प्रस्तुत किया। किन्तु इस दौरान प्रयोग के रूप में प्रत्येक ज़िला केन्द्र पर दो विद्यालय– एक हिंदुओं के लिए और दूसरा मुसलमानों के लिए स्थापित किये जायें।'[7]

भारतीय की देशी शिक्षा-व्यवस्था की मृत्यु के मुख में जाने से रोकनेवाली इससे अधिक आशदायी घोषणाएँ और क्या हो सकती थीं? किन्तु ये सब सुझाव और आश्वासन केवल काग़ज़ पर धरे रह गये। 1781 में कलकत्ता मदरसा और 1792 में बनारस संस्कृत कॉलेज़ के अतिरिक्त 1821 तक एक भी शिक्षा-संस्था की स्थापना ब्रिटिश सरकार द्वारा नहीं की गयी। इस दोनों विद्यालयों की स्थापना के पीछे भी भारत में शिक्षा-प्रसार का उद्देश्य न होकर विशुद्ध साम्राज्यवादी स्वार्थ काम कर रहे थे। कलकत्ता मदरसा की स्थापना एक मज़बूरी थी; क्योंकि उस समय प्रशासन और न्याय की भाषा फ़ारसी थी और सन् 1772 में बंगाल के सूबे में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का सीधा शासन स्थापित करने के बाद फ़ारसी-भाषा का एक शिक्षा-केन्द्र कलकत्ता में स्थापित करना आवश्यक हो गया था ताकि फ़ारसी-भाषा जाननेवाले भारतीय विद्वानों को कलकत्ता में एकत्र लाया जा सके और उनका सहयोग न्याय के लिए व अंग्रेज़ी शासकों को फ़ारसी सिखाने के लिए लिया जा सके।

बनारस में संस्कृत कॉलेज़ की स्थापना से होनेवाले लाभों का उल्लेख करते हुए बनारस के रेजीडेण्ट **जे. डंकन** ने 01 जनवरी, 1792 को गवर्नर जनरल **लॉर्ड कार्नवालिस** के नाम अपने पत्र में लिखा था, 'एक तो इससे हिंदू लोगों में हमारी सरकार की लोकप्रियता बढ़ेगी और इस विद्यालय के माध्यम से हिंदू-धर्म, क़ानून, कलाओं एवं विज्ञान-विषयक अनेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का एक पुस्तकालय निर्माण हो जाएगा, जहाँ से वे ग्रन्थ हमें सरलता से प्राप्त हो सकेंगे, दूसरे यूरोपीय न्यायाधीयों की सहायता के लिए हिंदू क़ानून के विद्वान् एवं व्याख्याता प्राप्त हो सकेंगे।'[8]

भारतीय शिक्षा-व्यवस्था को राजकीय सहयोग न देने के पीछे मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि ब्रिटेन में कुछ लोगों को यह चिन्ता पैदा हो गयी थी कि यदि भारत में अपने ज्ञान, साहित्य, भाषा और शिक्षा-प्रणाली के प्रति लगाव बना रहता है तो भारत पर ब्रिटिश शासन का लम्बे काल तक टिके रहना असम्भव हो जाएगा। **विलियम विल्बरफोर्स** के नेतृत्व में सन् 1780 में इंग्लैण्ड में इवेजेलिकल आन्दोलन शुरू हुआ, जिसका आग्रह था कि ब्रिटेन की साम्राज्य-स्थापना का मुख्य लक्ष्य ईसाइयत का प्रसार होना चाहिए। 1787 में मेथोडिस्टों ने विदेशों में धर्म-प्रचार के लिए पहले मिशन की स्थापना की। 1792 में **विलियम कैरे** की प्रेरणा से बैप्टिस्ट मिशनरी सोसायटी का जन्म हुआ।[9] उन्हीं दिनों **चार्ल्स ग्राण्ट**, ने 1767 से 1790 तक भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विभिन्न पदों पर कार्य करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि भारत में ब्रिटिश शासन का स्थायित्व ईसाइकरण पर ही निर्भर है। 1790 में वह इंग्लैण्ड वापस लौटकर विलियम विल्बरफोर्स के इस प्रचार-अभियान में सम्मिलित हो गया कि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट 1793 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दिये जानेवाले चार्टर में ईसाई-मिशनरियों को भारत जाने की अनुमति प्रदान करे। ग्राण्ट ने विल्बरफोर्स की सलाह पर 1992 में एक निबन्ध लिखा जिसमें हिंदू-चरित्र, हिंदू-ज्ञान एवं हिंदू-सभ्यता को भ्रष्ट तथा निकृष्टतम बताते हुए कहा गया कि ईसाइयत की छत्रच्छात्रा में आने पर ही हिंदुओं का उद्धार सम्भव है और उन्हें ईसाई बनाने का एक ही उपाय है कि उनकी देशी शिक्षा-प्रणाली के स्थान पर उन्हें अंग्रेज़ी-भाषा के माध्यम से यूरोपीय ज्ञान की शिक्षा दी जाय। ग्राण्ट ने यह भी आग्रह किया कि अंग्रेजी शिक्षा के लोकप्रिय बनाने के लिये फ़ारसी के बज़ाय अंग्रेज़ी को राजभाषा का दर्ज़ा दिया जाय।'[10]

कहा जाता है कि 1792 से 1797 तक यह निबन्ध हस्तलिखित रूप में ही उच्च ब्रिटिश

नेताओं के बीच घुमाया गया। 1813 में उसी पहली बार हाउस ऑफ़ कॉमन्स के सामने प्रस्तुत किया गया और उसके आदेश पर मुद्रित किया गया। किन्तु 1832 के पार्लियामेन्टरी पेपर्स में उसे सम्मिलित न किया गया। कहते हैं कि ग्राण्ट के निबन्ध को सर्वप्रथम ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चेयरमैन **डूण्डास** को गुप्त रूप से दिखा दिया गया था और उनके निजी सचिव **विलियम कैबेल** ने उस पर अपनी टिप्पणी देते हुए यूरोपीय ज्ञान एवम् ईसाइयत को भारत में फैलाने के राजनीतिक लाभों को स्वीकार किया था। इससे उत्साहित होकर ही बिल्बरफोर्स 1793 में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में प्रस्ताव रखा था कि भारत में मिशनरियों एवं शिक्षकों को भेजा जाय। एक बिंदु पर यह प्रस्ताव पास भी हो गया था, किन्तु शीघ्र ही कम्पनी के डायरेक्टरों को भारत-सम्बन्धी अपने लम्बे अनुभव के प्रकाश में स्मरण हो आया कि भारतीयों को ईसाई बनाने के प्रयासों का परिणाम राजनीतिक विप्लव में हो सकता है। वे कैसे भूल सकते थे कि ईसाइयत आरोपित करने के प्रयासों के कारण ही पुर्तगाली शासक न केवल भारतीयों की सहानुभूति खो बैठे थे अपितु उनकी घृणा के पात्र बन गये थे और राजनीतिक शक्ति के रूप में उनका भविष्य भारत में समाप्त हो गया था। अतः कम्पनी के प्रोप्राइटर्स की एक मीटिंग में इस विधेयक की निन्दा का प्रस्ताव पास कर दिया गया और जब हाउस ऑफ़ कॉमन्स में वह विधेयक पेश हुआ तो वहाँ भी ठुकरा दिया गया।[12] उपर्युक्त समस्त तथ्यों के प्रकाश में चार्ल्स ग्राण्ट के निबन्ध की कहानी काफ़ी रहस्यमय बन जाती है। किन्तु यह सत्य है कि इस निबन्ध को भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली की कल्पना को जन्म देनेवाला पहला दस्तावेज माना जाता है।

किन्तु इसे ठुकराने के पीछे यह भाव कदापि न था कि धर्मान्तरण के लिए शिक्षा का उपयोग अनुचित है, अपितु धर्मान्तरण के प्रयासों की भारत में होनेवाली राजनीतिक प्रतिक्रिया का भय मात्र था। इसलिये आधिकारिक तौर पर ईसाई मिशनरी प्रयासों से अपने को अलग रखते हुए भी प्रच्छन्न रूप से उन्हें भारत आने का प्रोत्साहन दिया गया इस प्रोत्साहन के बल पर ही विलियम कैरे मिशनरी कार्य के लिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी में लाइसेंस लिये बिना नवम्बर 1793 में भारत पहुँच गया। उन दिनों बंगाल में गवर्नर जनरल के पर पर **सर जॉन शोर** काम कर रहा था। जो स्वयं भी क्लेपहम सैक्ट का सदस्य था और भारतवासियों को ईसाई बनाने में स्थायी राजनीतिक लाभ देखता था। गवर्नर जनरल के पद से मुक्त होने के पश्चात्, उसने स्पष्ट लिखा था कि 'जब तक हमारे और प्रज्ञा के बीच धार्मिक एकता पैदा नहीं होगी तक तक हम कभी भी बाहरी आक्रमणों एवं आन्तरिक विप्लवों के विरुद्ध अपने साम्राज्य को सुरक्षित नहीं बना सकेंगे।'[13] इसलिये शोर ने ईसाइयत के प्रचार के प्रयत्नों से अपना या कम्पनी प्रशासन का कोई खुला सम्बन्ध न रखते हुए प्रच्छन्न रूप से उन्हें पूरा प्रोत्साहन प्रदान किया। इस प्रोत्साहन का हो परिणाम था कि इंग्लैण्ड में नयी-नयी मिशनरी संस्थाओं का जन्म होने लगा। 1795 में लन्दन मिशनरी सोसायटी की स्थापना हुई, 1799 में एंग्लिकन इवेंजेलिकलों ने चर्च मिशनरी सोसायटी को स्थापित किया। 1799 में **जोशूआ मार्शमेन** और **विलियम वार्ड** नामके दो और मिशनरी बिना लाइसेंस लिये भारत पहुँच गये। भारतीयों की नज़रों में कम्पनी को अपनी गतिविधियों से अलग रखने के लिये उन्होंने कलकत्ता के पास सीरामपुर (श्रीरामपुर) नामक बस्ती में डेरा जमाया। कहा गया कि यह बस्ती डेन्मार्क के राजा की निजी सम्पत्ति होने के कारण कम्पनी के अधिकारक्षेत्र से बाहर है और उस पर कम्पनी का कोई वश नहीं है। इसके आने पर विलियम कैरे भी वहीं पहुँच गया और इन तीनों ने मिलकर बंगाल में अंग्रेज़ी शिक्षा व ईसाइयत के प्रचार की दिशा में व्यवस्थित प्रयास प्रारम्भ किये। उनके प्रयासों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी का गुप्त समर्थन प्राप्त था यह इसी से प्रमाणित है कि गवर्नर जनरल लॉर्ड वेलेजली ने विलियम कैरे को सन् 1801 में स्थापित अपने फोर्स विलियम कॉलेज़ में अध्यापक के पद पर नियुक्ति प्रदान की थी।

इस प्रोत्साहन से सीरामपुर मिशनरी ग्रुप का साहस बहुत बढ़ गया। उन्होंने सीरामपुर में एक छापाख़ाना स्थापित कर लिया और वहाँ से उत्तेजक धार्मिक साहित्य छापकर वे कम्पनी के राज्यक्षेत्र में खुले आम वितरित करने लगे, कलकत्ता शहर में सार्वजनिक स्थानों पर धर्म प्रचार भी करने लगे। भारतीयों पर इसकी विपरीत प्रतिक्रिया से आशंकित होकर जब गवर्नर जनरल लॉर्ड मिण्टो ने इन गतिविधियों को रोकने की कोशिश की और कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स से प्रार्थना की कि भारत में मिशनरियों के प्रवेश को रोका जाय, तो कोर्ट ने 07 सितम्बर, 1808 के पत्र में इसी वैधानिक स्थिति का सहारा लिया कि इसमें से एक भी मिशनरी हमारा लाइसेंस लेकर भारत नहीं गया है और वह हमारे अधिकार-क्षेत्र के बाहर रहने के कारण हमारी प्रजा नहीं है, जबकि उसी पत्र में उन्होंने एक जगह यह भी स्वीकार किया है, 'भारत स्थित विभिन्न डेनिश बस्तियों पर ब्रिटिश सत्ता की स्थापना काफ़ी पूर्व हो चुकी है।' इस पत्र में प्रारम्भ से अन्त तक मिशनरी प्रयासों के प्रति कोर्ट की सहानुभूति बहुत स्पष्ट है, अन्त में केवल यह कहा गया है कि 'राजनीतिक हितों को ध्यान में रखकर कभी-कभी सरकार को मिशनरियों के उत्साह पर अंकुश लगाना पड़ सकता है; क्योंकि वे अपने उत्साह के आवेश में उन हितों को अनदेखा कर देते हैं।'[14]

लॉर्ड वेलेजली के कार्यकाल में अंग्रेज़ों की स्थिति भारत में काफ़ी सुदृढ़ हो गयी और उधर यूरोप में नेपोलियन के स्पेन में फँस जाने के कारण भारत पर स्थल-मार्ग से फ्रांस के सम्भावित आक्रमण के भय से भी मुक्ति हो गई। अतः सन् 1813 में कम्पनी के चार्टर का नवीकरण करते समय ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारत में मिशनरियों के प्रवेश पर लगे प्रतिबन्ध को हटा लिया। उस विषय में ब्रिटिश शासकों की दोगली नीति का स्पष्ट प्रमाण मिलता है गवर्नर जनरल लॉर्ड मोयरा की 02 अक्टूबर, 1815 की टिप्पणी में। यह टिप्पणी में जहाँ एक ओर वह भारत की देशी शिक्षा-प्रणाली की प्रशंसा करते हुए उसके सुधार व प्रसार की आवश्यकता बताते हैं, वहीं शिक्षा के माध्यम से ईसाई नैतिकता एवं नीतिशास्त्र के प्रचारों का आग्रह भी करते हैं। वे लिखते हैं कि 'उनके अन्धविश्वासों पर सीधी चोट करके बच्चों के माता-पिताओं को विरोध के पथ पर न धकेलते हुए उनमें ईसाई-सिद्धान्तों के प्रति आदर का भाव जगाया जाय। यह हो जाने पर उसका उस मार्ग पर आना निश्चित है जिस पर आप उन्हें लाना चाहते हैं... इस दिशा में प्रगति को वास्तविक बनाने के लिये बहुत धैर्यपूर्वक चुपचाप काम करना होगा.... और यह परिणाम उत्पन्न करने के लिये मेरी समझ में शिक्षा के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है।'[15]

दूसरा चरण सन् 1819 तक इस दिशा में बहुत सावधानीपूर्वक कदम बढ़ाया गया, किन्तु उसके पश्चात् ब्रिटिश नीति में परिवर्तन दिखाई देने लगता है। इस परिवर्तन को उत्पन्न करने में निम्नलिखित घटनाएँ कारण बनी प्रतीत होती हैं।

प्रथम : 1814 में नेपोलियन की अन्तिम पराजय के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद को चुनौती देनेवाली कोई शक्ति यूरोप या अमेरिका में शेष नहीं बची।

द्वितीय : 1818 में मराठा संघ की पराजय, पेशवाई की समाप्ति एवं मराठा-शक्ति के विघटन के कारण भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के लिए एकमात्र ख़तरा समाप्त हो गया। अब वे निर्विघ्न होकर अपनी साम्राज्यवादी नीतियों को घोषित व क्रियान्वित कर सकते थे।

तृतीय : औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोपीय सभ्यता अब भौतिक प्रगति के पथ पर काफ़ी आगे बढ़ चुकी थी। उत्पादन, संचार व यातायात के नये-नये साधनों के आविष्कार ने इंग्लैण्ड को भारी शक्ति प्रदान कर दी थी।

चतुर्थ : इस वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप यूरोप में विचार-क्रान्ति तेजी से

आगे बढ़ रही थी, जो प्रशासन, शिक्षा, न्याय-प्रणाली, अर्थरचना आदि के बारे में नयी-नयी विचारधाराओं को जन्म दे रही थी। इन विचारधाराओं में भारत की दृष्टि से ब्रिटेन में जन्मे उपयोगितावाद (यूटिलिटेरियनिज्म) का विशेष स्थान है। इस विचारधारा का जन्मदाता **जेरेग्री बेन्थम** को कहा जाता है, किन्तु भारतीय सन्दर्भ में इसी विचारधारा का प्रयोग सर्वप्रथम एक स्काट्समैन **जेम्स मिल** ने किया। जेम्स मिल ने 1806 से 1819 तक पूरे बारह वर्ष परिश्रम करके 6 खण्डों में ब्रिटिश भारत का इतिहास लिखा, जिसमें उसे उपयोगितावादी दर्शन को लागू करके भारत के प्राचीन धर्म-दर्शन और समाजरचना को ही भारतीयों के नैतिक ह्रास का कारण बताया और सिद्ध किया कि भारत का परम्परागत शासन, राजस्व एवं न्याय की प्रणाली पूर्णतया निरुपयोगी एवं समयातीत है। उसके स्थान पर यूरोपीय ज्ञान एवं विज्ञान पर आधारित यूरोपीय शासन, राजस्व एवं न्याय-प्रणाली को भारत में लागू करना होगा। उसने ब्रिटिश शासकों की भारत की ओर देखने की दृष्टि ही बदल दी। भारतीय ज्ञान, साहित्य, भाषाएँ, शिक्षा-पद्धति, न्याय-व्यवस्था, शासन-प्रणाली, राजस्व-व्यवस्था के प्रति जो कुछ प्रशंसा का भाव उनके मन में था, उसे समाप्त कर जेम्स मिल ने उन्हें भारत की प्रत्येक वस्तु को हीन दृष्टि से देखने की प्रेरणा दी। उसने कहा कि भारतीय ज्ञान एवं साहित्य बिल्कुल निम्न स्तर का और निरुपयोगी है।

जेम्स मिल का सबसे बड़ा योगदान यह रहा कि उसने ब्रिटिश शासकों के मन में चल रहे अन्तर्द्वंद्व का अन्त कर दिया। भारत में काम करनेवाले ब्रिटिश शासक एक ओर तो भारत का ईसाइकरण करने के लोभ में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली को यहाँ प्रचलित करने के लिये उत्सुक थे, दूसरी ओर शासन-तन्त्र,राजस्व-व्यवस्था एवं न्याय-प्रणाली की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उन्हें अधिकाधिक भारतीय कर्मचारियों का सहयोग लेने की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। और जब तक भारत में पुरानी शासन, राजस्व और न्याय-प्रणाली जीवित रहती है तब तक भारतीय कर्मचारियों का ऐसा वर्ग भारतीय भाषाओं के माध्यम से परम्परागत ज्ञान देनेवाली शिक्षा के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता था। अतः वे देशी शिक्षा-प्रणाली में कुछ ऐसे सुधार करना चाहते थे जिनसे उनकी प्रशासकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ भारतीयों का नैतिक स्तर ऊँचा उठ सके अर्थात् वे ईसाई-नैतिकता को स्वीकार करने लगें। सन् 1812 की पाँचवीं रिपोर्ट में बंगाल के ज़िला जजों ने शिक्षा के माध्यम से सुधार करने का सुझाव आग्रहपूर्वक प्रस्तुत किया। किन्तु जेम्स मिल ने अपनी इतिहास की पुस्तक में इस विचार को ठुकरा दिया। उसने कहा कि केवल स्कूल में सुधार से काम नहीं चलेगा। पहले उसके बाहर कुछ परिवर्तन करना होगा। उसने लिखा कि 'शासन-प्रणाली और क़ानून ही अच्छाई और बुराई के मूल स्रोत होते हैं। शिक्षा-पद्धति में कोई परिवर्तन लाने से पूर्व पहले इन्हें बदलना होगा।' ब्रिटिश भारत के इतिहास में उसने लिखा :

'ऊपर कहा गया है कि भारत-स्थित अंग्रेज़ न्यायाधीशों के मतानुसार शिक्षा ही एकमात्र शक्तिशाली साधन है जिसके द्वारा लोगों के नैतिक चरित्र में अनुकूल परिवर्तन लाया जा सकता है। किन्तु इस विषय पर **सर हेनरी स्ट्रेची** के अलावा सभी लोगों के विचार बहुत सतही हैं। शिक्षा का सबसे प्रभावकानी अंश वह है जो समाज की प्रकृति एवं व्यवहार में से ग्रहण किया जाता है और समाज की प्रकृति व व्यवहार पूर्णतया क़ानून व शासन-प्रणाली पर निर्भर करते हैं।'[16]

दूसरे शब्दों में कहना हो, तो जेम्स मिल का कहना यह था कि किसी भी देश की शिक्षा-प्रणाली उसके अर्थ-रचना, समाज-रचना, न्याय-व्यवस्था, राजस्व-व्यवस्था व शासन-तंत्र की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का साधन होने के कारण उनसे अभिन्नतया जुड़ी होती है। यदि इनमें मौलिक परिवर्तन कर दिया जाय, तो पुरातन शिक्षा-पद्धति अपने आप निरुद्देश्य होकर रह जाती है। इसलिये यदि भारत का यूरोपीकरण या ईसाइकरण करना है तो पहले उसकी देशी शिक्षा-पद्धति को निरुपयोगी बनाना होगा और

उसे निरुपयोगी बनाना तभी सम्भव है जब उसे सार्थकता प्रदान करनेवाली पुरानी क़ानून-रचना, शासन-प्रणाली व राजस्व-व्यवस्था को आमूलचूल बदल दिया जाय।

जेम्स मिल द्वारा लिखित इतिहास की पुस्तक ने ब्रिटिश शासकों पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि उसे 1819 में भारत-सम्बन्धी नीति-निधार्रण की सर्वाच्च संस्था बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल में असिस्टेंट ऐक्जामिनर बना दिया गया और 1836 में अपनी मृत्यु तक भारतीय प्रशासन के चरित्र-निर्धारण में उसकी अति महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। उसके जीवनकाल में ही सन् 1823 में उसके पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल को ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकर रख लिया गया। यह दायित्व उसने सन् 1858 तक निभाया। असिस्टेंट एक्जामिनर के रूप में जेम्स मिल का कार्य था भारत से होनेवाले पत्र-व्यवहार का लन्दन में बैठे-बैठे सूक्ष्म अध्ययन करना और उस अध्ययन के आधार पर विभिन्न विषयों पर कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स की ओर से गवर्नर जनरल के नाम आदेश पत्र लिखकर भारत भेजना। अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए जेम्स मिल ने अपने एक मित्र **डयूमांट** को 1820 में लिखा था :

> 'जो काम मुझे करना पड़ता है, वह परिश्रमसाध्य होते हुए भी बड़ा रोचक है। एक प्रकार से मुझे 6 करोड़ भारतवासियों के आन्तरिक प्रशासन की जड़ों से ही वास्ता रखना पड़ता है। जैसा कि तुम्हें पता ही है कि भारत का शासन यहाँ से पत्र-व्यवहार द्वारा चलाया जाता है और मैं ही अकेला व्यक्ति हूँ जिसे उस भारी-भरकम पत्र-व्यवहार में लिखी हुई जानकारी पर अधिकार स्थापित करके उचित निर्णय सुझाना पड़ता है। इससे तुम समझ सकते हो कि मेरे विभागों के सम्बन्ध में कोई भी वास्तविक निर्णय लेने का कार्य मेरी स्थिति में बैठे हुए व्यक्ति पर कितना आकि निर्भर करता है।'[17]

असिस्टेंट एक्जामिनर एवं डिस्पैच राइटर (परिपत्र-लेखक) के रूप में जेम्स मिल भारत में ब्रिटिश सत्ता के लगभग केन्द्र में पहुँच गया। इसके पश्चात् कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स की ओर से शिक्षा के सम्बन्ध में भारत को भेजे जानेवाले प्रपत्रों का लेखक सामान्यतया जेम्स मिल ही होता था। धीरे-धीरे वह शिक्षाविद् के रूप में इतना स्थापित हो गया कि एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के 1824 के संस्करण में शिक्षा-सम्बन्धी लेखन के लिये उसे आमन्त्रित किया गया, जो बड़े गौरव की बात थी।

भारत के लिये शिक्षा-नीति के बारे में जेम्स मिल के विचारों की पहली आधिकारिक झलक हमें उस पब्लिक डिस्पैच में मिलती है जो 11 जून, 1823 को कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स की ओर से नवनिर्मित बम्बई प्रैसीडेन्सी के प्रथम गवर्नर **माउण्ट स्टुअर्ट एलफिंस्टन** के नाम भेजा गया था। एलफिन्स्टन ने प्रशासकीय आवश्यकताओं की पूर्ति एव नवविजित मराठी प्रदेशों के शिक्षित वर्ग को सन्तुष्ट करने के हेतु बनारस संस्कृत कॉलेज़ के अनुकरण पर 1821 में पूना में एक संस्कृत कॉलेज़ सरकार की ओर से प्रारंभ किया था। इस डिस्पैच में एलफिन्स्टन के इस कदम की भर्त्सना की गयी। बनारस हिंदू कॉलेज़ और कलकत्ता मदरसा को आरम्भ करने की पुरानी नीति को मूलतः ग़लत ठहराते हुए इस डिस्पैच में पौर्वात्य ज्ञान का उपहास उड़ाते हुए लिखा गया :

> 'विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान का जो स्तर इस समय पौर्वात्य साहित्य में उपलब्ध है, उसे पढ़ने या पढ़ाने में लोगों को लगाना समय नष्ट करने से भी ज़्यादा बदतर होगा। यदि प्राच्य भाषाओं में कोई ऐतिहासिक दस्तावेज उपलब्ध हो, तो उनका अनुवाद करा लेना उचित रहेगा। किन्तु इस कार्य को भी ऐसे यूरोपियन ही सर्वोत्तम ढंग से कर सकेंगे जिन्होंने उस बारे में आवश्यक ज्ञान अर्जित कर लिया हो। इसके अलावा पौर्वात्य साहित्य में जो कुछ रह जाता है, वह केवल काव्य है और काव्य की शिक्षा के लिये कॉलेज़ों की स्थापना कभी

आवश्यक नहीं मानी गयी।'[18]

इस डिस्पैच का स्वर ब्रिटिश सरकार की अब तक की शिक्षा नीति से बिल्कुल अलग हटकर था। अतः एलफिन्स्टन का शंका हुई कि शायद इसका लेखक जेम्स मिल ही हो सकता है। उसने लन्दन-स्थित अपने मित्र एडवर्ड स्ट्रेची से इस बारे में पूछताछ की, तो उसने पुष्ट कर दिया कि इसका लेखक जेम्स मिल ही था।[19] किन्तु अब ये विचार जेम्स मिल के व्यक्तिगत विचार न रहकर कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स के अधिकृत विचार बन चुके थे; क्योंकि ठीक वैसा ही डिस्पैच 18 फरवरी, 1824 को गवर्नर जनरल ऑफ़ बंगाल को भी प्रेषित किया गया। इस डिस्पैच में स्पष्ट कहा गया कि :

> 'हमारा महान् लक्ष्य 'हिंदू ज्ञान' का शिक्षण न होकर उपयोगी ज्ञान का शिक्षण होना चाहिये था। केवल हिंदू या केवल मुस्लिम साहित्य को पढ़ाने के लिये विद्यालयों की स्थापना करके आप स्वयं को ठीक देशी ज्ञान की शिक्षा देने के लिये बांध लेते है जो अधिकांशतः छिछला है, जिसमें काफ़ी बड़ा भाग शरारतपूर्ण है और जिसमें थोड़ा ही ऐसा बच जाता है जिसकी कुछ उपयोगिता हो सकती है।'[20]

वस्तुतः इंग्लैड में लम्बे विचार-मंथन के पश्चात् इस समय तक भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति के नियामक सूत्र लगभग निश्चित किये जा चुके थे। विचार केवल यह चल रहा था कि उन्हें व्यावहारिक रूप कब और कैसे प्रदान किया जाय। उनके सामने शिक्षा-नीति से सम्बन्धित मूलभूत प्रश्न थे :

1. भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति का उद्देश्य क्या हो ?
2. कौन से ज्ञान की शिक्षा दी जाय– पौर्वात्य अथवा यूरोपीय ?
3. शिक्षा का माध्यम क्या हो ? संस्कृत, फ़ारसी, अंग्रेज़ी या क्षेत्रीय बोलियाँ (वरनाक्यूलर्स)
4. भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए सबके लिये शिक्षा की व्यवस्था की जाय या केवल कुछ चुने हुए लोगों के लिये ? अंग्रेजी में कहना हो तो मास एजुकेशन हो या क्लास एजुकेशन ?

इन प्रश्नों के उत्तर में ब्रिटिश मस्तिष्क किस तरह काम कर रहा था, इसकी एक झलक 21 अगस्त, 1821 को गवर्नर जनरल की परिषद् द्वारा पारित एक संकल्प में मिल जाती है। इस संकल्प के अनुसार संस्कृत ज्ञान के परम्परागत केन्द्रों– नदिया एवं तिरहुत में संस्कृत-विद्यालयों की स्थापना के लॉर्ड मिण्टो के प्रस्ताव को ठुकराकर ब्रिटिश राजधानी कलकत्ता में एक संस्कृत कॉलेज़ स्थापित करने का निर्णय लिया गया। किन्तु इस निर्णय के पीछे वास्तविक उद्देश्य क्या था, यह संकल्प के शब्दों में ही जानना उचित रहेगा। उपर्युक्त संकल्प में कहा गया है :

> 'समिति **(कलकत्ता कॉलेज़ समिति)** यह ध्यान रखे कि इस संस्था का तात्कालिक उद्देश्य हिंदू साहित्य का शिक्षण है, किन्तु सपरिषद् गवर्नर जनरल के मतानुसार हमारा अधिक मूलगामी उद्देश्य है प्रत्येक सम्भव उपाय से शनैः-शनै यूरोपीय ज्ञान का प्रसार करना। यह आशा करना अनुचित नहीं होगा कि यदि हिंदुओं के उच्च एवं शिक्षित वर्ग में उनकी अपनी पवित्र भाषा (संस्कृत) के माध्यम से योरोपीय साहित्य एवं विज्ञान के लिए रुचि जगायी जा सकी, तो फिर उस ज्ञान की एवम् उसे प्रदान करनेवाली भाषा की सीधी शिक्षा को भी अन्य विद्यालयों के द्वारा व्यापक पैमाने पर उनके बीच फैलाया जा सकेगा। अतः साधन भिन्न होते हुए भी इस अन्तिम उद्देश्य पर दृष्टि केन्द्रित रहना चाहिए।'[21]

नयी शिक्षा नीति की इससे भी स्पष्ट झलक **होल्ट मैकेंजी** की 17 जुलाई, 1823 की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी में प्राप्त हो जाती है। मैकेंजी हेलीबरी कॉलेज़ में शिक्षण प्राप्त कर 1808 में भारत आया

था और 1817 से 1831 तक उसने कलकत्ता स्थित सर्वोच्च सरकार के सचिव पद पर कार्य किया। वह उपयोगितावादी विचारधारा को माननेवाला था। उसकी प्रेरणा व उपर्युक्त टिप्पणी के आधार पर ही ब्रिटिश शिक्षा नीति को क्रियान्वित करने के लिए 31 जुलाई, 1823 को 10 सदस्यों की एक जनरल कमेटी फॉर पब्लिक इस्ट्रक्शन (सार्वजनिक शिक्षा समिति) की नियुक्ति गवर्नर जनरल **लार्ड अमहर्स्टन** ने की थी।[22] अपनी टिप्पणी में मैकेंजी ने सबसे पहली बात यह लिखी कि 'सर्वप्रथम हमें अपने अन्तिम उद्देश्य को तय कर लेना चाहिए अन्यथा हम अकारण ही साधनों के बारे में अनन्त बहस में उलझे रह जायेंगे। जहाँ तक मैं समझता हूँ सरकार की इच्छा है कि लोगों को केवल वही शिक्षा प्रदान की जाय जो उन्हें इस समय प्रचलित नागरिक प्रशासन का कुशल हस्तक बना सकें।'[23]

दूसरी बात उन्होंने कही, 'यदि यूरोपीय विज्ञान सत्य और श्रेष्ठ है तो उसे भारत के लोगों तक पहुँचाना हमारी शिक्षा-योजना का प्रारम्भ से अनिवार्य अंग होना चाहिए। और सरकार को यह बात अधिकृत तौर पर घोषित कर देना चाहिये।'[23]

तीसरी बात कही गयी कि, 'भारतीय समाज के शिक्षित एवं प्रभावशाली वर्ग की शिक्षा के लिये विद्यालयों की स्थापना करना ही, मेरी दृष्टि में सरकार की पहली चिन्ता होनी चाहिए न कि प्राथमिक स्कूलों की स्थापना करना। सम्पूर्ण समाज की शिक्षा का प्रबन्ध करना तो वर्तमान स्थिति में असम्भव प्रतीत होता है। ईसाई शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत ही श्रमिक वर्ग को सच्ची शिक्षा दी जा सकती है, किन्तु निम्न वर्ग के लोगों के बीच काम करनेवाला ऐसा कोई तन्त्र कभी हमारे पास नहीं है। दूसरे, सब देशों में होता आया है कि विदेशों से आये हुए ज्ञान को उच्च अथवा शिक्षित वर्गों के माध्यम से ही क्रमशः नीचे तक पहुँचाया जा सकता है। यदि भारतीय समाज के प्रभावशाली वर्गों को इस्तेमाल नहीं किया गया, तो यूरोपियनों का प्रभाव अनिवार्यतः बहुत छोटे क्षेत्र में सीमित रह जायेगा।' अंग्रेज़ी-भाषा के प्रचलन को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता पर बल देते हुए मैकेंजी ने कहा कि 'समान भाषा का सूत्र विचारों की एकता पैदा करने का सबसे सुनिश्चित ही नहीं वरन् एकमात्र माध्यम है।' अंग्रेज़ी-भाषा के प्रचलन में आनेवाली बाधाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा कि यदि अंग्रेज़ी को फ़ारसी की जगह न्यायालयों की भाषा बना दिया जाय और अंग्रेज़ी-शिक्षा को सरकारी नौकरियों की प्राप्ति से जोड़ा जा सके, तो अंग्रेज़ी-भाषा को सीखनेवालों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो सकेगी। उन्होंने कहा कि विदेशी होते हुए भी यदि फ़ारसी भारत में चल सकती है तो अंग्रेज़ी क्यों नहीं चल सकती।[23]

इस टिप्पणी में मैकेंजी ने एक जगह ऐसी बात कही है, जिसे भारत के वर्तमान नीति-निर्माताओं को अवश्य गाँठ बांध लेनी चाहिये। उन्होंने लिखा है कि 'जहाँ तक हमारे चित्र के अन्तिम रूप का सम्बन्ध है, उसकी हमें अभी से स्पष्ट कल्पना करनी चाहिये। किन्तु उसके अलग-अलग भाग नपे-तुले कदमों के द्वारा धीरे-धीरे बनते चले जायेंगे। उसे पूर्णता पर पहुँचाने का काम हमें अपनी सन्तान की सन्तान के लिये छोड़ देना चाहिये।'[23]

भारतीय बुद्धिजीवियों में अभी तक यह धारणा प्रचलित है कि लॉर्ड अमहर्स्ट द्वारा 1823 में स्थापित शिक्षा समिति को भारत के लिए शिक्षा-नीति के स्वरूप-निर्धारण का काम सौंपा गया था, पर यह समिति पाश्चात्यवादियों और पौर्वात्यवादियों के दो बराबर गुटों में विभाजित हो जाने के कारण 1823 से 1835 तक आन्तरिक बहस में उलझी रही और किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पायी। इस बहस का पटाक्षेप **लार्ड मैकाले** ने उसका अध्यक्ष पद ग्रहण करके पाश्चात्यवादियों को बहुमत में लाकर अंग्रेज़ी-भाषा के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा के पक्ष में फरवरी, 1835 को अपना निर्णय देकर किया। किन्तु उपर्युक्त दस्तावेज से स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा समिति की नियुक्ति के पूर्व ही ब्रिटिश शासक अपनी शिक्षा नीति के

बारे में निश्चित निर्णय पर पहुँच चुके थे। शिक्षा समिति का मुख्य कार्य उस नीति को व्यावहारिक रूप प्रदान करना था। मैकाले की टिप्पणी में जो बातें कही गई हैं, उनका प्रतिदापन मैकेंजी की उपर्युक्त टिप्पणी में काफ़ी पहले हो चुका था और उस दिशा में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष प्रयोग भी प्रारम्भ किये जा चुके थे।

पाश्चात्य ज्ञान एवम् अंग्रेज़ी-भाषा को भारत में प्रचलित करने का स्पष्ट निर्णय लेने के बाद भी सावधानीवश ब्रिटिश सरकार ने 1835 तक प्रत्यक्षतः स्वयं को इन प्रयोगों से पृथक् रखा। सरकारी स्तर पर कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज़, दिल्ली कॉलेज़, आगरा कॉलेज़ आदि की स्थापना की गयी, जहाँ प्रारम्भ में संस्कृत अथवा फ़ारसी-भाषा के माध्यम से पौर्वात्य ज्ञान का शिक्षण देने की ही व्यवस्था की गयी। लगभग इसी समय मद्रास प्रेसीडेन्सी व बम्बई प्रेसीडेन्सी में देशी शिक्षा-व्यवस्था की स्थिति का पता लगाने के लिये सर्वेक्षण आयोजित किये गये। किन्तु बंगाल में ऐसा सर्वेक्षण 1835-38 में आयोजित किया गया जबकि अंग्रेज़ी-शिक्षा के पक्ष में निर्णय घोषित किया जा चुका था। इससे प्रकट होता है कि सर्वेक्षणों का मुख्य उद्देश्य देशी शिक्षा की व्यवस्था को पुनरुज्जीवित करना न होकर केवल वह पता लगाना रहा होगा कि उसमें अभी कितनी साँस और बाकी है और उनको पूरी तरह मरने में कितना समय और लगेगा। इसके पूर्व ही 1816 से ग़ैर-सरकारी स्तर पर मिशनरियों एवम् अंग्रेज़ अधिकारियों के व्यक्तिगत प्रयत्नों से अंग्रेज़ी-भाषा के स्कूलों की स्थापना अनेक स्थानों पर की जा चुकी थी। बंगाल में ब्रिटिश शासन को लम्बा समय हो जाने के कारण कलकत्ता एवं मुख्य नगरों में बंगालियों का एक ऐसा वर्ग खड़ा हो चुका था जिसके अंग्रेज़ों से घनिष्ठ सम्बन्ध बन गये थे और जो नौकरियाँ, आदि पाने के लोभ से अंग्रेज़ी-भाषा और यूरोपीय ज्ञान को सीखने के लिये उत्सुक था। ऐसे ही वर्ग को प्रेरित करके एक ब्रिटिश धनवान् **डेविड हेयर** एवं कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश **सर हाइड ईस्ट** ने 1817 में कलकत्ता में अंग्रेज़ी-भाषा के माध्यम से एक हिंदू विद्यालय की स्थापना करवा दी, जिसे प्रारम्भ में 'महापाठशाला' नाम दिया गया और जिसके आधार पर अंग्रेज़-शासकों को यह कहने का अवसर मिल गया कि अंग्रेज़ी-शिक्षा को हमने नहीं थोपा बल्कि भारतीयों ने ही इसके लिए पहल की। 1817 में ग़ैर-सरकारी तौर पर कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी की स्थापना की गयी जिसने पाश्चात्य ज्ञान पर आधारित पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का बीड़ा उठाया। 1820 में कलकत्ता के पहले बिशप **मिडलटन** ने कलकत्ता में बिशप कॉलेज आरम्भ किया। किन्तु अभी तक अंग्रेज़ी-शिक्षा के लिये यह उत्साह अंग्रेज़ों के कृपापात्र भारतीयों तक ही सीमित था। 1832 में पार्लियामेंटरी कमेटी के समाने साक्षी देते समय जेम्स मिल ने भी इस बात को स्वीकार किया था कि 'केवल वही लोग जो अंग्रेज़ अधिकारियों के सम्पर्क में आ रहे हैं, अंग्रेज़ी-भाषा सीखने की इच्छा प्रकट करते हैं, किन्तु देश की विशाल जनसंख्या जो देहातों में बिखरी हुई है, जिनमें से अनेक ने किसी अंग्रेज़ की शक्ल भी कभी नहीं देखी होगी और उनको अंग्रेज़ी जानने की कभी आवश्यकता पड़ती ही नहीं होगी, अतः वे उसे सीखने के लिये क्यों उत्सुक होंगे?'[24]

शिक्षा समिति ने गर्वनर जनरल के नाम अपने 18 अगस्त, 1824 के पत्र में स्वीकार किया कि 'हमने भले ही अपने मन को सन्तुष्ट कर लिया हो कि हमारी भारतीय प्रजा उपयोगी शिक्षा प्राप्त करने के लिये उत्सुक है, किन्तु हममें ये प्रत्येक व्यक्ति, जिसे शिक्षित एवम् अशिक्षित भारतीयों से सम्पर्क का अवसर मिलता रहता है, इस तथ्य से भली प्रकार अवगत है कि वे लोग यूरोपीय साहित्य एवं ज्ञान को बहुत नीची दृष्टि से देखते हैं, में आजाविका पाने के उद्देश्य से अंग्रेज़ी का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा कुछ मात्रा में अवश्य है और यूरोपियनों के भारतीय कर्मचारी जिन्हें अपने स्वामियों से लगातार सम्पर्क रखने की आदत बन गयी है, भले ही यह सोचते हों कि उनके देशवासियों को व्यावहारिक उद्देश्य से उसे (यूरोपीय ज्ञान को) सीखना चाहिये। किन्तु ऐसी धारणाएँ बहुत थोड़े लोगों तक सीमित हैं। अभी भी

मौलवी-पण्डित अपने ही ज्ञान से सन्तुष्ट हैं और पश्चिम के साहित्य और विज्ञान को सीखने में शक्ति लगाना बेकार समझते हैं।..... अतः हमारे विचार से जनभावनाओं की वास्तविक स्थिति अभी भी पाश्चात्य साहित्य या विज्ञान को लागू करने के मार्ग में बाधा है...।'[25]

होल्ट मैकेंजी और शिक्षा कमेटी की टिप्पणियों में निहित संकेतों को समझकर गवर्नर जनरल ने 1826 में रेग्युलेटिंग एक्ट 11 के द्वारा सरकारी नौकरियों में अंग्रेज़ी जाननेवाले लोगों को प्राथमिकता देने का आदेश दिया। आगे चलकर फ़ारसी-भाषा को प्रशासन की भाषा पद से हटा दिया गया ताकि उसकी उपयोगिता कम होती चले। अंग्रेज़ी-भाषा एवं यूरोपीय ज्ञान को प्रोत्साहित करने के लिये 1823 के बाद दिल्ली कॉलेज़, आगरा कॉलेज़ व कलकत्ता संस्कृत कॉलेज़ में अंग्रेज़ी-शिक्षा की अलग कक्षाएँ आरम्भ की गयीं। कलकत्ता में मदरसा, संस्कृत कॉलेज़ एवं हिंदू विद्यालय के छात्रों के लिये यूरोपीय विज्ञान की कक्षाएँ एक जगह संयुक्त लगायी जाने लगीं जिनके लिये लन्दन सोसायटी ने वैज्ञानिक प्रयोग का यन्त्र पहली बार भारत को निःशुल्क भेंट किया।

सन् 1824 के पश्चात् कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स के डिस्पैचों में शिक्षा की भावी दिशाएँ बहुत स्पष्ट रूप में व्यक्त की जाने लगीं। 05 सितम्बर, 1827 के डिस्पैच में गवर्नर जनरल को कहा गया कि 'आपके पास जितने सीमित साधन है, उनमें आप कुछ ही विद्यालय आरम्भ कर सकते हैं। इसलिये कोई भी चुनाव करते समय दो बातों को ध्यान में रखना चाहिये कि कोई भी नया विद्यालय अधिकतम महत्त्व के नगरों में उच्च और मध्यम वर्ग के ऐसे भारतीयों को लेकर प्रारम्भ करना चाहिये जिन्हें आप सरकारी पदों पर नियुक्त कर सकें और जिनका अपने शेष देशवासियों पर व्यापक प्रभाव हो। क्योंकि डिस्पैच के अनुसार उच्च वर्गों के लोगों के पास पर्याप्त खाली समय होता है और देशवासियों पर उनका सहज प्रभाव होता है। अतः उन्हें उच्च सत्ता की शिक्षा प्रदान कर आप पूरे समाज के विचारों और भावनाओं में अधिक व्यापक एवं ज़्यादा लाभकारी परिवर्तन ला सकेंगे, जबकि बहुसंख्यक समाज की शिक्षा का सीधा प्रयास करके तुम कम परिणाम पाने की आशा कर सकते हो।'[26]

इस डिस्पैच में कोर्ट ने शिक्षा को नौकरियों से जोड़ने के गवर्नर जनरल के प्रयासों की सराहना करते हुए पुनः स्मरण दिलाया कि 'देश के कामकाज़ को चलाने और सरकार के महत्त्वपूर्ण विभागों के लिये भारतीय कर्मचारियों की प्रतिदिन बढ़ती हुई मांग को ध्यान में रखते हुए हमारी परिष्कृत शिक्षा का उद्देश्य ऐसे वर्ग का निर्माण होना चाहिये जो सरकारी नौकरियों के लिये उपयुक्त सिद्ध हो। शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास करना न होकर उनके नैतिक चरित्र को ऊपर उठाना होना चाहिये ताकि उनकी सत्यनिष्ठा के कारण तुम उन्हें अधिक विश्वास के पदों पर नियुक्त कर सको।'[27]

एलफिन्स्टन के पश्चात् बम्बई प्रेसीडेन्सी के गवर्नर के पद पर पहुँचकर **लॉर्ड मालकम** ने 1828 में अपनी एक टिप्पणी में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य कम वेतन पर कुशल भारतीय कर्मचारियों की प्राप्ति बताया। उसने लिखा, 'मेरी अपेक्षा है कि भारत के लोगों में शिक्षा-प्रसार के पीछे हमारा मुख्य उद्देश्य हमारे प्रशासन की प्रत्येक शाखा में उनका सहयोग लेने की अपनी क्षमता को बढ़ाना है। मैं इस कार्य को बचत, कुशलता एवं सुरक्षा– तीनों दृष्टियों से आवश्यक समझता हूँ।' बचतवाले बिंदु को और स्पष्ट करते हुए उसने कहा कि 'सरकार के विभिन्न विभागों में काम करनेवाले योरोपीय कर्मचारियों के वर्तमान वेतनों में कोई कटौती कर पाना तो अब सम्भव प्रतीत नही होता, किन्तु मुझे आशा है कि ऐसे बहुत-से पदों पर, जिन पर आजकल यूरोपीय लोग नियुक्त हैं, काम करने के लिये कम वेतन पर भारतीय कर्मचारी उपलब्ध हो सकेंगे।'[28]

अधिकाधिक स्थानों पर इंग्लिश स्कूलों की स्थापना पर आग्रह करते हुए सर जॉन माल्कम ने

10 अक्टूबर, 1829 को एक टिप्पणी में लिखा, 'बम्बई जैसे एकाध स्थान पर इंग्लिश स्कूल रहने पर क्लर्कों और एकाउण्टेंटों की बढ़ती हुई मांग के कारण ये लोग अधिक वेतन मांगने लगते हैं। उनके बाज़ार भाव को घटाने का एक ही तरीक़ा है कि माल का उत्पादन बढ़ाया जाय और इसलिये (बम्बई के अतिरिक्त) सूरत व पूना-जैसे स्थानों पर भी इंग्लिश स्कूल की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जाय।'[29]

अंग्रेज़ी शिक्षा का एक अन्य प्रबल समर्थक चार्ल्स ट्रेवेलियन था, जिसने 1834 में लॉर्ड मैकाले की बहिन **हन्ना मोरे** से विवाह किया। उसे 1827 में भारत पहुँचने के तुरन्त पश्चात् दिल्ली में ब्रिटिश रेजीडेण्ट **मेटकॉफ** का सहायक नियुक्त किया गया। उसने वहाँ आते ही दिल्ली कॉलेज़ में अंग्रेज़ी की कक्षा आरम्भ कर दी।[30] ट्रेवेलियन की प्रेरणा से दिल्ली की शिक्षा समिति ने केन्द्रीय शिक्षा समिति को 12 फरवरी, 1829 को सूचित किया कि 'भारतीयों में अंग्रेज़ी शिक्षा और ज्ञान का प्रसार होने से शताब्दियों तक उनके और हमारे बीच एकता के सूत्र स्थापित हो जायेंगे जो कभी भी पूरी तरह नहीं टूट पायेंगे। किन्तु यदि उन्हें उनकी दुनिया में ही पड़े रहने दिया तो वे अपनी वर्तमान दुर्दशा का चिन्तन शुरू कर देंगे।' दिल्ली समिति ने यह भी सुझाव दिया कि अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिये आवश्यक है कि डिग्री पानेवाले को सरकारी नौकरियों में लिया जाय, छात्रवृत्तियाँ, डिग्री एवं डिप्लोमा आदि देकर अंग्रेज़ी पढ़ने को प्रोत्साहन दिया जाय। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि ब्रिटिश सरकार भारतीय नरेशों से अंग्रेज़ी-भाषा में पत्र-व्यवहार करे और सरकारी नौकरियों के लिये अंग्रेज़ी के ज्ञान को अनिवार्य बना दिया जाय।[31] स्पष्ट ही ऐसे सुझावों को ध्यान में रखकर लॉर्ड विलियम बेंटिक ने जून 26, 1829 को शिक्षा समिति को एक पत्र में लिखा कि 'मैं और मेरी परिषद् आपको सूचित करते हैं व अधिकार देते हैं कि आप अपने विद्यालयों के प्रबन्ध से जुड़े सभी व्यक्तियों के सामने घोषणा कर दें कि ब्रिटिश सरकार की इच्छा और सुनिश्चित नीति यह है कि वह अपनी भाषा (अंग्रेज़ी) को क्रमशः और अन्ततोगत्वा देशभर में सरकारी कामकाज़ की भाषा बनानेवाली है और इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक सम्भव प्रोत्साहन प्रदान करने का कोई भी अवसर नहीं चूकना चाहेगी।'[32]

कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टरों ने एक कदम और आगे बढ़कर 29 सितम्बर, 1830 के अपने डिस्पैच में खुले शब्दों में घोषणा कर दी कि 'भारत के प्रत्येक भाग में अंग्रेज़ी-भाषा और यूरोपीय ज्ञान को फैलाना ही हमारा अन्तिम लक्ष्य है, यह हमें सदैव ध्यान रखना चाहिये।'[33] इसके बाद सरकार की ओर से इंग्लिश कॉलेज़ों की स्थापना भी शुरू हो गयी। दिल्ली और बनारस में पृथक् सरकारी अंग्रेज़ी कॉलेज़ शुरू किये गये। कलकत्ता का हिंदू कॉलेज का प्रबन्ध भी शिक्षा समिति के अधीन आ गया।

जेम्स मिल की सलाह को मानकर लॉर्ड विलियम बेंटिक के कार्यकाल (1828-1836) में भारत में न्याय, राजस्व और शासन-पद्धति के क्षेत्र में पाश्चात्य आधारशिलाएँ पूरी तरह स्थापित कर दी गयीं। इतना सब हो जाने के बाद लॉर्ड मैकाले 1834 में भारत पहुँचा और केवल 6 मास के भीतर ही उसने 02 फरवरी, 1835 को अपनी वह प्रसिद्ध टिप्पणी लिखी जिसके कारण उसे ही भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली को आरम्भ करने का श्रेय दिया जाता है और भारतीय ज्ञान-सम्पदा का उपहास उड़ाने के लिये उस पर गुस्सा भी उतारा जाता है। किन्तु उपर्युक्त दस्तावेजों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि लॉर्ड मैकाले ने पहले से निर्धारित एवं क्रियान्वित किसी नीति को केवल अपनी सशक्त साहित्यिक भाषा में अभिव्यक्ति प्रदान कर दी। मैकाले की टिप्पणी को आधार बनाकर बेंटिक ने 07 मार्च, 1835 को घोषणा कर दी कि शिक्षा के लिए निर्धारित सभी धनराशि केवल यूरोपीय साहित्य व विज्ञान की उन्नति के लिये अंग्रेज़ी-भाषा के माध्यम से खर्च की जायेगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अंग्रेज़ी-शिक्षा को सरकारी नौकरियों से जोड़ने के पीछे

दोहरा उद्देश्य विद्यमान था। एक, इतने विशाल देश के शासन-प्रबन्ध को चलाने के लिये सस्ते वेतन पर वफ़ादार और कुशल भारतीय कर्मचारियों को प्राप्त करना। दूसरे, नौकरियों को प्रलोभन देकर भारत के उच्च एवं प्रभावशाली वर्गों के लोगों को अंग्रेज़ी-भाषा के माध्यम से यूरोपीय ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त करना। वस्तुतः उनकी शिक्षा-नीति का उद्देश्य पुरानी शिक्षा-पद्धति में से उत्पन्न होनेवाली भारतीय सन्तति को, जो देश की संस्कृति से जुड़ी हुई थी और जिसकी निष्ठा की जड़ें देश की मिट्टी में गहरी थीं, पीछे धकेलकर एक ऐसी भारतीय पीढ़ी का निर्माण करना था जो मैकाले के शब्दों में 'केवल रक्त और रंग से भारतीय होंगे, किन्तु रुचि, विचार, आचार व ज्ञान की दृष्टि से अंग्रेज़ी होंगे और जो हम शासकों व हमारे करोड़ों प्रजाजनों के बीच दुभाषियों का काम करेंगे।'[34]

मैकाले व अन्य ब्रिटिश शासकों को विश्वास था कि एक बार यह प्रभावशाली वर्ग यूरोपीय सभ्यता व ज्ञान के रंग में रँग गया तो उसके माध्यम से वह सभ्यता व ज्ञान देशी भाषाओं के माध्यम से छनकर क्रमशः करोड़ों भारतीयों के दिल-दिमागों में पहुँच जायेगा। अतः एक प्रकार से यह भारत की स्थायी सांस्कृतिक विजय की योजना थी। अंग्रेज़ी शिक्षा के पक्ष में अपना निर्णय लिखने के पश्चात् मैकाले ने बड़े गर्वपूर्वक अपने पिता को एक पत्र में लिखा था, 'मुझे पक्का विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी योजना को आगे बढ़ाया गया तो तीस वर्ष बाद बंगाल के सम्भ्रान्त वर्गों में एक भी मूर्तिपूजक शेष नहीं रहेगा। और यह परिणाम बिना किसी धर्मान्तरण के बिना उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किए ही निकल सकेगा।'[35]

सांस्कृतिक विजय का यह स्वप्न ब्रिटिश शासकों व मिशनरियों को समान रूप से स्पन्दित करता रहा। मिशनरी **अलेक्जेंडर डफ** ने 1835 के शिक्षा एक्ट पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा था :

> 'जब रोमन लोग किसी नये प्रदेश को जीतते थे, तो वे तुरन्त उसका रोमनीकरण करने में जुट जाते थे। अर्थात् वे अपनी अधिक विकसित भाषा और साहित्य के प्रति रुचि जगाकर विजित लोगों के संगीत, रोमांस, इतिहास, चिन्तन और भावनाओं, यहाँ तक कि कल्पनाओं को भी रोमन शैली में प्रवाहित होने की स्थिति उत्पन्न कर देते थे, जिससे रोमन हितों का पोषण व सुरक्षा होती थी। क्या रोम इसमें सफल नहीं हुआ।'[36]

ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व के लिये अंग्रेज़ी-शिक्षा के द्वारा भारत की सांस्कृतिक विजय की योजना का सबसे वैज्ञानिक और दूरदर्शी चित्र प्रस्तुत किया है चार्ल्स ट्रेवेलियन ने अपनी पुस्तक 'ऑन दी एजुकेशन ऑफ़ दी पीपुल ऑफ़ इण्डिया' में। 1838 में प्रकाशित इस पुस्तक में उसने लिखा है :

> 'इंग्लैड और भारत-जैसे दूरस्थ देशों के बीच वर्तमान सम्बन्ध चिरस्थायी नहीं हो सकता। हमारी कोई भी नीति भारतीयों को किसी-न-किसी दिन अपनी स्वतन्त्रता वापस लेने से रोक नहीं पायेगी। किन्तु सम्बन्ध-विच्छेद के बिन्दु पर पहुँचने के दो मार्ग हैं : एक है क्रान्ति का रास्ता और दूसरा है सुधार का रास्ता। पहले में हमला अचानक और हिंसक होगा, दूसरे में धीरे-धीरे और शान्तिपूर्ण ढंग से होगा। एक का परिणाम भारतीयों और हमारे बीच हितों व भावनाओं के पूर्ण विच्छेद में होगा तो दूसरे में पारस्परिक लाभ और सद्भाव पर आधारित स्थायी मित्रता में होगा। पहले प्रकार के परिणामों को टालने और दूसरे प्रकार को प्राप्त करने का हमारे पास एक ही उपाय है कि हम भारतीयों को यूरोपीय विकास के रास्ते पर बढ़ा दें। तब वे पुरानी भारतीय भित्ति पर टिकी स्वाधीनता को पाने के लक्ष्य व आकांक्षा को त्याग देंगे... उनकी राष्ट्रीय गतिविधि पूर्णतया और निरापद ढंग से योरोपीय ज्ञान को पाने और फैलाने में तथा यूरोपीय संस्थाओं को अपनाने में लगी रहेगी।

शिक्षित वर्ग यह सोचकर हमसे चिपका रहेगा कि इन सिद्धान्तों के आधार पर उनके देश का उत्थान हमारी छत्रच्छाया में रहकर ही सम्भव हो सकता है।[37] वह लिखता है कि अंग्रेज़ी साहित्य द्वारा प्रदत्त प्रेरणा भारत के साथ इंग्लैण्ड का रिश्ता मज़बूत करने में सहायक रहेगी। हमारे साहित्य से परिचित होने के बाद भारतीय नवयुवक हमें विदेशी मानना बन्द कर देते है... उग्र विद्रोही या हताश जी-हजूर बनने के बजाय वे हमारे उत्साही व बुद्धिमान सहयोगियों में बदल जाते हैं। उनकी आंकाक्षा का अन्तिम लक्ष्य हमारी नकल बनना हो जाता है।'[38]

उसने आगे लिखा : 'हमारी पद्धति से शिक्षा प्राप्तकर, समान उद्देश्यों में रुचि लेकर, हमारे साथ समान कार्यों में संलग्न होकर वे हिंदू से अधिक अंग्रेज़ बन जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे रोमन उपनिवेश गाल या इटालवी से अधिक रोमन हो गये थे।'[39]

अंग्रेज़ी-शिक्षा के द्वारा भारतीयों की सांस्कृतिक विजय के फलस्वरूप ब्रिटिश शासकों को जहाँ ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा रखनेवाले एक प्रभावशाली वर्ग के निर्माण की आशा थी, वहीं यह अपेक्षा भी थी कि अंग्रेज़ी शिक्षा के रंग में रँगकर उनकी अपने धर्म व संस्कृति के प्रति निष्ठा हिल जायेगी और तब वे स्वतः ही ईसाइयत की गोद में चले आयेंगे।

अपेक्षाकृत उदार माने जानेवाले एलफिन्स्टन ने अपने निजी पत्र-व्यवहार में आशा व्यक्त की कि भारत में पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार का परिणाम हिंदू-धर्म की पकड़ को कमज़ोर बनाने में होगा। किन्तु शिक्षा को धर्मान्तरण का साधन बनाने के ईसाई-मिशनरियों के उत्साह से चिन्तित होकर उसने 18 जनवरी, 1819 को अपने एक मित्र **कैप्टेन इरविन** को लिखाः 'मेरा पक्का विश्वास है कि भारतीयों के धर्मान्तरण का सबसे परिणामकारी उपाय उन पर अपने विचारों को थोपना है। क़ानून और नैतिकता के क्षेत्र में इस देश के यूरोप से पीछे रह जाने का मुख्य कारण मैं हिंदू-धर्म को मानता हूँ और उनके सुधार के मार्ग की इस बाधा के हटने पर मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी.... मैंने कई बार भारत में अपने साम्राज्य की स्थिति पर विचार किया है और मुझे सदैव लगा है कि भले ही यह साम्राज्य अभी मुट्ठीभर लोगों के कन्धों पर टिका है और भारतीय प्रजा के दिलों में हमारे लिये कोई स्थान नहीं है, तब भी हमारा राज्य लम्बे समय तक टिका रह सकेगा यदि कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न न हो जाय कि कोई झूठा पैगंबर देश के वर्तमान धर्म के सुधार के कार्य को विदेशियों से देश की मुक्ति के कार्य के साथ जोड़नेवाली कोई योजना तैयार न कर ले। मैं नहीं समझता कि ऐसी किसी भी तूफ़ान के विरुद्ध हमारी सत्ता एक क्षण भी टिक पायेगी और बिल्कुल यही स्थिति है जो धर्मान्तरण के प्रयत्नों में से पैदा हो सकती है। मैं आशा करता हूँ कि धर्मान्तरण के पक्षधर यह नहीं सोचते होंगे कि यह महान् कार्य उनके अपने हाथों से हो सम्पन्न होना चाहिये। यदि वे ऐसा न सोचते हों तो 50 या 100 साल में (या 200 साल में, मानवता के इतिहास में एक शताब्दी का काल ही क्या होता है?) भारतीयों का धर्मान्तरण होने की पूरी सम्भावना है। हाँ, यदि ज़ल्दबाजी की गयी तो हमारे पूर्वी साम्राज्य के विनाश होने को भी पूरी सम्भावना है।'[40]

दिनांक 13 दिसम्बर, 1823 को लिखित शिक्षा नीति सम्बन्धी अपनी टिप्पणी में एलफिन्स्टन ने अपने इस आशावाद व चेतावनी को और भी पैने शब्दों में व्यक्त किया :

'हमारी शिक्षा-सम्बन्धी योजनाओं के साथ धर्म का रंचमात्र भी सम्बन्ध जोड़ने पर मुझे घोर आपत्ति है। जिस योजना के क्रियान्वयन की राह में पहले ही काफ़ी बाधायें खड़ी हैं, उनमें मैं एक और नयी बाधा को जोड़ना नहीं चाहूँगा। मेरा पक्का विश्वास है कि ज्ञान का प्रसार होने पर भारतीयों का धर्मान्तरण अवश्यम्भावी है। स्पष्ट ही, अभी उन्हें इस

कारणकार्यसम्बन का बोा नहीं हुआ है। अन्यथा,अपने अज्ञान पर प्रत्येक प्रहार को वे अपने धर्म पर आघात समझकर उसका कड़ा विरोध करते? हमारे स्कूलों में ईसाइयत को घुसाने का परिणाम होगा ख़तरे की घंटी को बजाना और ब्राह्मणों को आनेवाले ख़तरे के प्रति सचेत कर देना। अतः इससे न केवल हमारी भावी शिक्षा-योजनाओं को खतरा उत्पन्न हो जायेगा, अपितु हमारे साम्राज्य का ही सफ़ाया हो जायेगा।'[41]

इसीलिये ट्रैवेलियन, मैकेंजी और मैकाले आदि साम्राज्यवादियों ने अंग्रेज़ी शिक्षा-पद्धति के समर्थन में अपने तर्कों को उपयोगितावादी आवरण में प्रस्तुत किया जबकि मन-ही-मन वे भारतीयों के ईसाइकरण की ही कामना कर रहे थे। **बालहैचेट** ने लिखा है कि 'चार्ल्स ट्रैवेलियन सार्वजनिक रूप में अंग्रेज़ी शिक्षा के पक्ष को उपयोगितावादी तर्कों से समर्थन प्रदान करता था, किन्तु गवर्नर जनरल के नाम व्यक्तिगत पत्रों में वह यह लिखने में कोई संकोच नहीं करता था। कि इसका अन्तिम परिणाम भारत के ईसाइयत में धर्मान्तरण में ही होगा।'[42]

इस प्रकार 1835 तक शिक्षा नीति से सम्बन्धित सभी प्रश्नों के बारे में अन्तिम निर्णय लिया जा चुका था। भारत का ईसाइकरण अथवा यूरोपीकरण करना एवं सस्ते वेतन पर वफ़ादार अराष्ट्रीयकृत कर्मचारियों को प्राप्त करना उसका एकमात्र उद्देश्य था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उच्च एवं सम्भ्रान्त वर्ग के चुने हुए लोगों को यूरोपीय ज्ञान अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से देने का निश्चत किया गया। 1835 के बाद इन्हीं निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिये संगठनात्मक ढाँचा और प्राइमरी से उच्च शिक्षा तक की सीढ़ियाँ निर्माण करने का कार्य किया गया। 1839 में गवर्नर जनरल **लॉर्ड आकलैण्ड** ने शिक्षा-नीति के सम्बन्ध में एक विस्तृत टिप्पणी लिखी जिसमें सुझाव दिया गया कि यूरोपीय ज्ञान को अधिकाधिक भारतीयों तक पहुँचाने के लिये केवल अंग्रेज़ी-भाषा पर निर्भर करना उचित नहीं होगा। निचले स्तरों पर शिक्षा का अध्ययन देशी भाषाओं (वर्नाक्यूलर्स) को बनाना उचित रहेगा। अतः यह निर्णय हुआ कि प्राइमरी शिक्षा का माध्यम देशी भाषा रहेगी और उच्च शिक्षा का अंग्रेज़ी-भाषा। बीच के स्तरों पर एंग्लो-वर्नाक्यूलर भाषा-पद्धति बनायी जायेगी। अर्थात् संस्कृत व फ़ारसी-भाषाओं का स्थान अंग्रेज़ी-भाषा ने लिया और पौर्वात्य ज्ञान का स्थान यूरोपीय ज्ञान ने। 1854 में बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल के अध्यक्ष **चार्ल्स वुड** के हस्ताक्षरों से शिक्षा-नीति के बारे में एक विस्तुत आदेशपत्र भारत भेजा गया जो **वुड्स डिस्पैच** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस समय तक लगभग पूरे भारत पर अंग्रेज़ों का अधिकार स्थापित हो चुका था। इस डिस्पैच में प्राइमरी से विश्वविद्यालय तक की शिक्षा-व्यवस्था के ढाँचे की पूरी रूपरेखा दी गयी। शिक्षा-पद्धति में एकरूपता लाने और उसे निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति का सशक्त माध्यम बनाने की दृष्टि से कलकत्ता, मद्रास एवं बम्बई में तीन विश्वविद्यालयों को स्थापित करने का आदेश दिया गया जिसे 1857 की क्रान्ति के ठीक पहले क्रियान्वित कर दिया गया।

ऐसी अराष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध राष्ट्रभक्तों में आक्रोश पैदा होना स्वाभाविक था। स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि सन्तों ने भारतीय चेतना के प्रतिनिधि बनकर इस शिक्षा-प्रणाली के मोह जाल को नष्ट कर दिया और राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन की बीजभूमि तैयार की। किन्तु वह राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन एक बिन्दु तक जाकर रुक क्यों गया, उल्टे वापस क्यों लौटने लगा, इसकी कारण-मीमांसा करना आज हमारे लिये बहुत आवश्यक है। इससे भी अधिक चिन्ता व गवेषणा का विषय यह है कि स्वाधीनताप्राप्ति के 38 वर्षों में इस शिक्षा-प्रणाली की लगातार निन्दा करने और उसे आमूलचूल बदलने की उच्चस्तरीय घोषणाओं के बावजूद स्वाधीन भारत इसी निन्दित शिक्षा-प्रणाली का दिन दूनी रात चौगुनी रफ़्तार से विस्तार क्यों करता जा रहा है? यहाँ जेम्स मिल के उस कथन का मर्म

समझने की बहुत आवश्यकता है कि देश की न्याय, राजस्व, शासन-प्रणाली एव अर्थरचना से शिक्षा-प्रणाली का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शिक्षा-प्रणाली को बदलने से पहले उन्हें बदलना आवश्यक है। हम स्वाधीन भारत में अंग्रेज़ों द्वारा आरोपित न्याय, राजस्व व शासन-प्रणाली एवम् अर्थरचना का तो विस्तार करते चलें, किन्तु शिक्षा-पद्धति में मौलिक परिवर्तन करना चाहें तो हमारे हाथ वैसे ही असफलता और निराशा लेगी जैसी कि अंग्रेज़ों को प्रारम्भिक पचास वर्षों में मिली थी। अतः शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की बात करने के पूर्व हमें भी अपने देश की प्रकृति और आवश्यकता के अनुसार न्याय-प्रणाली, शासन-प्रणाली तथा अर्थरचना का विकास करना होगा। अंग्रेज़ों से दूसरी शिक्षा हम यह ग्रहण कर सके हैं कि जब तक उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली के लिये अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न नहीं कर ली, तब तक भारत की देशी शिक्षा-पद्धति को चारों ओर से बहुत दबाव आने पर भी कोई सहारा प्रदान नहीं किया बल्कि उसका आर्थिक आधार हटाकर उसे सूखने दिया ताकि शिक्षाप्रेमी भारतीयों के सामने एक शून्य उत्पन्न हो जाय और उस शून्य को अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति से भरा जा सके।

सन्दर्भ :

1. सीले, सर जॉन : दि एक्सपेंशन ऑफ़ इंग्लैण्ड (प्रथम प्रकाशन लन्दन 1883) में उद्धृत, संस्करण 1897, पृ. 289-90
2. पूर्वोक्त,पृ. 291
3. ए.एन. बसु (सम्पादित): इण्डियन एजुकेशन इन पार्लियामेंटरी पेपर्स, चार्ट 1 (1832) (बम्बई, 1952) पृ. 144-145.
4. एच.शार्पः सेलेक्शन्स फ्रॉम एजुकेशनल रिकार्ड्स, प्रथम भाग 1781-1839, (प्रथम प्रकाशित, कलकत्ता, 1920, पुर्नमुद्रित, दिल्ली, 1965) पृ. 26-27
5. ए.एन बसुः पूर्वोक्त, पृ. 209
6. वही, पृ. 149-151
7. एच. शार्पः पूर्वोक्त, पृ. 24-29
8. एच. शार्पः पूर्वोक्त, पृ. 10-11.
9. ऐली हालेवीः ए हिस्ट्री ऑफ़ दि इंग्लिश पीपुल इन 1815 (पेलिकन बुक्स,1938) भाग 3,पृ. 69
10. डी.पी. सिन्हाः दि एजुकेशनल पॉलिसी ऑफ़ ईस्ट इण्डिया कम्पनी इन बंगाल अप टु 1854 (कलकत्ता, 1964), पृ. 46
11. वही, पृ. 7
12. वही, पृ. 8
13. वही, पृ. 11,
14. एच. शार्पः पूर्वोक्त, पृ. 46,
15. एच. शार्पः पूर्वोक्त,पृ. 25,पैरा 122.
16. एरिक स्टोक्सः दि इंग्लिश यूटीलिटेरियन्स एण्ड इण्डिया (ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1959, पुनमुर्दित भारत,1982) पृ. 56-57
17. वही, पृ. 48
18. के. बालहैचेटः सोशल पॉलिसी एण्ड सोशल चेंज इन वेस्टर्न इण्डिया 1817-1930 (लन्दन, 1957, पुनर्मुद्रित, 1961) पृ. 256
19. वही, पृ. 257
20. ए.एन. बसुः पूर्वोक्त, पृ. 152153.
21. हरिपद मुखर्जी व उमा मुखर्जीः ओरिजिन्स ऑफ़ नेशनल एजुकेशन मूवमेंट इन बंगाल, कलकत्ता, पृ. 379 पर उद्धृत.
22. एरिक स्टोक्सः पूर्वोक्त, पृ.951.
23. शार्पः पूर्वोक्त, पृ. 57-64
24. ए.एन. बसुः पूर्वोक्त, पृ. 269-272.

25. शार्पः पूर्वोक्त, पृ. 95-96.
26. बसुः पूर्वोक्त, पृ. 156 (पैरा 12)
27. वही,पृ. 160
28. ए.एन. बसुः पूर्वोक्त, पृ. 223,
29. वही, पृ. 250
30. शहामत अलीः दि सिक्ख एण्ड अफ़ग़ान्स, प्रथम प्रकाशित 1883, द्वितीय संस्करण,पटियाला, 1970 पृ. VII, (शहामत अली दिल्ली कॉलेज़ की अंग्रेज़ी कक्षा में प्रवेश लेनेवाले पहले छात्रों में से था) वह लिखता है कि किस प्रकार ट्रेवेलियन की सिफ़ारिश पर उसे लुधियाना-स्थित ब्रिटिश रेजीडेन्ट कैप्टेन वडे के पास नियुक्ति दी गयी।
31. बी.बी. अग्रवालः ग्रोथ ऑफ़ ब्रिटिश एजुकेशन पॉलिसीः (अप्रकाशित थीसिस, दिल्ली विश्वविद्यालय), पृ. 41
32. आर.सी. मजूमदारः ग्लिम्पसेज ऑफ़ बंगाल इन दि नाईन्टीन्थ सेन्चुरी, (कलकत्ता, 1960) पृ. 45
33. ए.एन,बसु, पूर्वोक्त, पृ.164-166
34. शार्पः पूर्वोक्त, पृ.116
35. आर.सी.मजूमदारः पूर्वोक्त, पृ. 32
36. लाला हरदयालः थॉट्स ऑन एजुकेशन, (प्रथम प्रकाशित 1908; पुनर्मुद्रित, दिल्ली, 1969) पृ. 15
37 स्टोक्सः पूर्वोक्त, पृ. 46-47.
38. लाला हरदयाल, पूर्वोक्त, पृ. 19
39. वही, पृ. 23,
40. के. बालहैचेटः पूर्वोक्त, पृ. 248.
41. बसुः वही, पृ. 211
42. बालहैचेटः पूर्वोक्त, पृ. 248.

❖❖❖

शिक्षा : समाज और राज्य

डॉ. पवन शर्मा*

वह समाज, जो मुक्त चिन्तन का वाहक होता है, वहाँ व्यवस्था का संचालन प्रायः समाज के द्वारा ही किया जाता है। दैनन्दिन जीवन में राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम रहता है और यही कारण है कि संस्कृत वाङ्मय में एक आदर्श राज्य में राजा के मन्त्रियों के रूप में संख्या 810 से अधिक नहीं बतलाई गई है। एकमात्र कौटिल्य 18 तीर्थों का उल्लेख करते हैं। ऐसी व्यवस्था 18वीं सदी तक रही। अकबर के नवरत्नों से तो हम सभी परिचित हैं। किन्तु वे समाज जो मुक्त व्यवस्था को प्रश्रय नहीं देते, वहाँ स्थिति इसके विपरीत होती है। ऐसी व्यवस्था में अधिकांश गतिविधियों का संचालन राज्य द्वारा ही किया जाता है। भारत में 18वीं शती तक लगभग व्यवस्थाओं का संचालन समाज पर अवलम्बित रहा है, किन्तु उसके बाद राज्य पर अवलम्बित व्यवस्था के नियन्त्रण में सभी क्रियाकलाप आ गई और इससे शिक्षा भी अछूती न रह सकी। इस आलेख में हम इन्हीं विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे कि शिक्षा क्या है और इसका समाज और राज्य के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है? क्या यह व्यवस्था परिवर्तनीय भी है या नहीं?

यद्यपि इस दृष्टिकोण से अनेक पुस्तकों का लेखन किया गया है, तथापि इसके निहितार्थों को समझने के प्रयास या तो किए नहीं गए या फिर उनको योजनागत दृष्टि से ओझल किया गया। 1834 से लेकर आज तक शिक्षा, समाज और राज्य पर अनेक प्रकार के साहित्य का सृजन हुआ है, किन्तु विगत 180 वर्षों से अधिक के कालखण्ड में उस पर हुए प्रयास ऊँट के मुँह में जीरा सदृश ही सिद्ध हुए हैं; क्योंकि इन 180 वर्षों में राज्य की भूमिका उत्तरोत्तर बाज़ार के सान्निध्य से और सुदृढ़ ही हई है और समाज क्रमशः दुर्बलता को प्राप्त हुआ है। शिक्षा, समाज और राज्य के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के साथ-साथ इसके परिप्रेक्ष्य में राज्य और बाज़ार की युति के अंतःसम्बन्धों को भी समझना होगा।

शिक्षा क्या है?

'शिक्षा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'शिक्ष' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है सीखना। कालान्तर में इस शब्द को प्रेरक के रूप में भी प्रयुक्त किया जाने लगा, फलतः इसका अर्थ सिखाना भी हो गया।[1] किन्तु अमरकोश इसको वेदांग, जोकि छह हैं और वेदों के पढ़ने के दृष्टिकोण से जिनका प्रणयन हुआ, के एक अंग के रूप में बताता है।[2] उस समय शिक्षा से अभिप्राय वेदों के पठन-पाठन से था। शिक्षा के ऊपर संस्कृत में लगभग 32 ग्रंथ उपलब्ध भी हैं। उनके अध्ययन से भी यही स्पष्ट होता है।[3] सभी अर्थों में आज जिसे हम शिक्षा के रूप में प्रयुक्त करते हैं, वस्तुतः भारतीय परिप्रेक्ष्य में उसे 'विद्या' कहा गया है। 'विद्या'

* प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष, राजनीतिविज्ञान-विभाग, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'विद' धातु से हुई है जिसका अभिप्राय है जानना, सीखना आदि। तो प्रश्न उठता है, क्या जानना? इस पर उपनिषद् एवं पुराणादि विस्तार से प्रकाश डालते हैं। माण्डूक्योपनिषद् में अंगिरा ऋषि शौनक को विद्या के विषय में कुछ यों बताते हैं। वे कहते हैं कि **द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यदब्रह्मविदो वहन्तिपरा चैवापरा च**, अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं ने दो विद्याओं को जानने योग्य कहा है– एक परा है और दूसरी अपरा है। ऋषि परा के अन्तर्गत अक्षर परमात्मा को एवम् अपरा के अन्तर्गत चारों वेद एवं वेदान्त को सम्मिलित करते हैं। इस जगत् में परा और अपरा– दोनों का सम्यक् ज्ञान अति आवश्यक है; क्योंकि एक यानी अपरा से जगत् के प्रपञ्चों का संचालन होता है और दूसरे यानी परा से अक्षर परमात्मा या ब्रह्म की समझ का विकास होता है। भारतीय दृष्टि में इन दोनों की समझ से ही **सर्व खलु इदम् ब्रह्म** की प्रतीति होती है और यह एकात्मता का आधार है। इसी एकात्मता के आधार पर सम्पूर्ण सृष्टि में ईश्वर की अनुभूति होती है। ईशोपनिषद् यही कहता है कि **ईशावास्यमिदम् सर्वम् यत्किञ्चित जगत्यां जगत्, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**॥[4] अर्थात् इस जगत में जो कुछ भी स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छदित है, यानि, वह ईश्वरस्वरूप ही है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए त्यागपूर्वक इसे भोगो, इसमें आसक्त मत होओ; क्योंकि धन यानी भोग्य पदार्थ किसका है? अर्थात् किसी का भी नहीं। भारतीय परम्परा में सम्यकता का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए जो भारतीय चिन्तन को एकांगी या अतिवादी बताते हैं, वे ग़लत हैं। ईशोपनिषद् इस पर व्यापकता से प्रकाश डालता है। **विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते**॥[5] अर्थात्, जो विद्या और अविद्या– दोनों को एक साथ ही जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पर करके विद्या से अमरता प्राप्त करता है। इस प्रकार सम्यकता के अभाव में अमरत्व की प्राप्ति असम्भव है। अतः भारतीय परम्परा में विद्या ही अमृतप्रदायिनी है और यह अमृतत्व संसार से भाग कर नहीं, अपितु उसमें रत रहकर ही प्राप्त होता है। इसमें किसी भी प्रकार की अति को निषिद्ध किया गया है। जो ऐसा करते है, उसके विषय में भी ऋषि बहुत ही अच्छी बात कहता है। वह लिखता है कि **अनन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायां रता**॥[6] यानि जो अविद्या ही उपासना करते हैं वे अविद्यारूपी घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या उपासना, पर लोक आदि में ही रत है, वे मानी उससे भी अधिक अंधकार में प्रवेश करते हैं।

इस प्रकार से ऋषि अति पर विराम लगाता है। भारतीय परम्परा का यह वैशिष्ट्य रहा है कि इसमें कहीं पर भी अति को प्रश्रय नहीं दिया गया है। इसीलिए यह सनातन है यानि, नित नूतन, चिर पुरातन। स्वयं अद्यतन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता। विद्या के द्वारा समाज न केवल स्वयं पुष्ट होता रहा है बल्कि वह स्वयं और राज्य का नियमन भी करता रहा है। इस नियमन में धर्म का अत्याकि महत्व रहा है। भारत में धार का अभिप्राय पश्चिम प्रणीत रिलीजन से नहीं अपितु कर्तव्यों या विदित कर्मों से है। धर्म की प्रतीत के कारण ही सम्पूर्ण सृष्टि में ऋषि ईश-दर्शन करता है स्वयं को सम्पूर्ण जगत् के साथ एकात्म मानकर प्राणिमात्र के कल्याण ही कामना करता है न कि स्वयं के कल्याण भी। क्योंकि उसे यह अनुमति है कि सृष्टि के कल्याण में ही स्वयं का कल्याण सुनिश्चित है। तभी तो वह **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित दुःख भाग्भवेत्**, का गान करता है। शिक्षा में यह सब नहीं है। इसलिए जबसे शिक्षा का व्याप बढ़ा है, तभी से विद्या को आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाने लगा है या उसे शिक्षा के समानान्तर माना जाने लगा है। आधुनिक शिक्षा ने विद्या में प्रतिष्ठित स्व का परित्याग किया है, फलस्वरूप एकात्मता विच्छिन्न हुई है और समाज दुर्बलतर अवस्था को प्राप्त हुआ है। धर्म की प्रतिष्ठापना से समाज स्वयं अभिसिंचित करता रहता था। आधुनिक शिक्षा ने धर्म को 'रिलीजन' के समानान्तर लाकर

उसे साम्प्रदायिक घोषित कर दिया जबकि धर्म का सम्प्रदायों से कोई लेना-देना है ही नहीं। धर्म तो एक व्यापक दृष्टिकोण का विकास करनेवाली ब्रह्माण्डीय अवाारणा है जो शाश्वत है। वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद इसे बहुत ही भली प्रकार से बताते हैं– **यतोऽभ्युदय निश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः**[7] यानि, जिससे अभ्युदय अर्थात् इहलौकिक सुख किंवा जीवनमुक्ति और निःश्रेयस् (मोक्ष) की सिद्धि हो, वही धर्म है। धर्मशास्त्र इसको साधने के उपायों पर प्रकाश डालते हैं– **धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥**[8] अर्थात्, धैर्य, क्षमा, दम (विषय का हेतु उपस्थित होने पर भी मन को उसमें न लगाना ही दम कहलाता है), अस्तेय (पराए धन में आसक्ति न होना), शौच (पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह, धी (शास्त्रीय ज्ञान), विद्या (अपरा और परा की समझ; क्योंकि इसी से व्यष्टि से समष्टि भाव की प्रतीति होती है), सत्य तथा क्रोध का नियमन– ये धर्म के दश लक्षण हैं। भारतीय समाज इस धर्म के लक्षणों के अनुरूप ही व्यवहार करता था। फलतः समाज सशक्त रहता था और इस सशक्तीकरण में विद्या का अवलम्बन समाज के साथ था। इसी अवलम्बन को आधुनिक शिक्षा ने तिरोहित कर दिया। मैकाले का बहनोई जोकि भारत में 12 वर्षों तक रहा, जिसका नाम चार्ल्स ट्रैवेलेयिन था, वह दूसरी विद्या धर्म को भुलाने के लिए न केवल प्रयासरत रहा, बल्कि ऐसी संरचना भी खड़ी कर गया जिसका आज समाप्त करना तो दूर उससे बच पाना भी असम्भव है। भारत इसी धर्म और विद्या के बल पर विश्वगुरु बना था। ट्रेवेलियन अपनी पुस्तक 'ऑन द एजुकेशन ऑफ़ पीपुल ऑफ़ इण्डिया' में चिन्ता व्यक्त करता है कि कैसे विद्या को शिक्षा और धर्म को संविधान में परिणत कर दिया जाए। वह लिखता है कि हमारा कर्तव्य इन भारतीयों को पढ़ाना नहीं बल्कि इन्हें पढ़ा हुआ भुलाना है (Our duty in not to teach but to unteach)[9]। यही हुआ भी और आज भी हो रहा है।

शिक्षा और उसके निहितार्थ

समाष्टिगत चिन्तन के आधार पर भारत ने विश्वगुरुत्व के स्थान को अर्जित किया था। किन्तु जब पश्चिम का भारत के साथ सम्बन्ध बना, तब उसने व्यक्तिगत हितों को केन्द्र में रखना प्रारम्भ कर दिया। ऐसा इसलिए क्योंकि यूरोपीयों को भारत में मात्र स्वयं के हितसाधक वर्ग का निर्माण करना था न कि सम्पूर्ण सृष्टि के हितसाधकों का। इसलिए ही तो ट्रेवेलियन भारतीयों को अशिक्षित करने की बात करता है; क्योंकि जब तक ये स्वयं का व्यापक ज्ञान भूलेंगे नहीं, तब तक उनका संकुचित ज्ञान कैसे अर्जित करेंगे। वही सब करने के लिए उन्होंने अनेकानेक प्रकार के प्रपञ्च रचे। ब्रिटिश पद्धति के आधार पर जिन स्थानों पर अंग्रेज़ी-शिक्षा का प्रसार पहले और व्यापकता के साथ हुआ, वहाँ की मानासिकता और जहाँ पर इस शिक्षा का प्रसार नहीं हो सका, वहाँ के मध्य के भेद मेरे कथन की पुष्टि करते हैं। 23 जून, 1853 को ब्रिटेन में एक पार्लियामेन्टी कमेटी के समक्ष गवाही देते समय ट्रेवेलियन ने इस तथ्य को उद्घाटित किया। उसने कहा कि अपने यहाँ की शुद्ध स्वदेशी पद्धति के अनुसार मुसलमान अंग्रेज़ों को क़ाफिर समझते हैं, जिन्होंने इस्लाम की सर्वोत्तम बादशाहतें उससे छीन ली हैं। .... उसी प्राचीन स्वदेशी विचार के अनुसार हिंदू हमें म्लेच्छ समझते हैं, अर्थात् उस तरह के अपवित्र, विधर्मी जिनके साथ किसी भी तरह का सामाजिक सम्बन्ध नहीं रखा जा सकता और वे सभी मिलकर अर्थात् हिंदू और मुसलमान– दोनों हमें उस तरह के आक्रमणकारी विदेशी समझते हैं, जिन्होंने उनका देश उससे छीन लिया है, और उनके लिए धन और मान प्राप्त करने के समस्त मार्ग बंद कर दिए हैं।.... यूरोपियन शिक्षा देने का नतीज़ा यह होता है कि भारतवासियों के विचार बिल्कुल दूसरी ओर मुड़ जाते हैं। पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए युवक स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करना बंद कर देते हैं।.... वे फिर हमें अपना शत्रु और राज्य-अपहरणकर्ता नहीं समझते, बल्कि हमें अपना अपना मददगार, बलवान और उपकारशील मनुष्य समझने लगते हैं।.... वे यह भी

समझने लगते हैं कि भारतवासी अपने देश के पुनर्जीवन के लिए जो कुछ अच्छा कर सकते हैं, वह अंग्रेज़ों के संरक्षण में ही धीरे-धीरे सम्भव हो सकता है।[10] यह जो बात 1853 में ट्रेवेलिन कह रहा है, इसकी बानगी 1823 में राजा राममोहन राय के पत्र में देखी जा सकती है जो उन्होंने लॉर्ड एम्हर्स्ट को स्वदेशी शिक्षा के स्थान पर अंग्रेज़ी शिक्षा की स्थापना के परिप्रेक्ष्य में लिखा था। बाद में इसी पत्र के आधार पर 1828 में लॉर्ड विलियम बैंटिक ने एक शिक्षा-सम्बन्धी परिपत्र निर्गत करके फ़ारसी के सभी मदरसों एवं संस्कृत की पाठशालाओं को प्रदत्त सरकारी अनुदान-राशि यह कहते हुए बंद करने का आदेश दिया था कि यदि इन्हें सरकारी सहयोग चाहिए तो अंग्रेज़ी पद्धति को स्वीकार करें। इस प्रकार शिक्षा समाज के हाथों से निकलकर धीरे-धीरे राज्याश्रित होती गई और समाजिक हितों के स्थान पर व्यक्तिगत हितों की पोषणकर्ता बन रही है। अपनी बात को और पुष्ट करने के लिए ट्रेवेलियन कुछ उदाहरण देता है, उनमें से एक के माध्यम से इसे आसानी से समझा जा सकता है, ''मुझे विश्वास है कि भारतवासियों को शिक्षा देने का अन्तिम परिणाम यह होगा कि भारत और इंग्लिस्तान का पृथक् होने की सम्भावना दीर्घ और अनन्त काल के लिए टल जाएगा।...... यदि इसके विरुद्ध नीति का अनुसरण किया गया, तो नतीज़ा यह होगा कि किसी भी समय हम भारत से निकाले जा सकते हैं और निः सन्देह बहुत ज़ल्दी और बड़ी ज़िल्लत के साथ निकाल दिए जाएँगे।''[11] इसके बाद वह समाज के दौर्बल्य और सशक्तता की तुलना करने के लिए एक उदाहरण देता है कि ''जहाँ अंग्रेज़ी-शिक्षा का प्रसार हुआ है, वहाँ का समाज ब्रिटिश हुकुमत पर अवलम्बित होकर हमारा अनुगामी बन रहा है और जहाँ पर अभी यह नहीं हो पाया है, वहाँ वह आज भी सशक्त बना रहकर हमारे विरुद्ध आवाज़ उठा रहा है।'' वह आगे कहते है कि ''मैं एक रास्ता बता रहा हूँ जो हमारे समाज के स्थायित्व के लिए सबसे अधिक हितकर होगा। अनेक वर्षों तक खूब अच्छी तरह सोच-समझकर मैंने ये विचार कायम किये हैं। मुझे विश्वास है कि मैं इस विषय को अच्छी तरह समझता हूँ। ...मैं एक परिचित उदाहरण आपके सामने पेश कर रहा हूँ। मैं 12 वर्ष भारत में रहा, इनमें से पहले 6 वर्ष मैंने उत्तर भारत में गुजारे। मेरा मुख्य स्थान दिल्ली था। शेष छह वर्ष मैंने कलकत्ते में बिताये। जहाँ पर मैंने पहले छह वर्ष गुजारे, वहाँ पर शुद्ध देशी विचारों का राज्य था। वहाँ पर लगातार युद्ध और युद्धों की अफ़वाहें सुनने में आती थी। उत्तर भारत में भारतवासियों की देशभक्ति केवल एक ही रूप धारण करती थी, वे हमारे विरुद्ध साज़िशें कर रहे थे।.... उसके बाद में कलकत्ता आया। वहाँ मैंने बिल्कुल दूसरी हालत देखी। वहाँ पर लोगों का लक्ष्य था स्वतन्त्र अख़बार निकालना, म्यूनिसिपैल्टियाँ कायम करना, अंग्रेज़ी शिक्षा फैलाना, अधिकाधिक हिंदुस्तानियों को सरकारी नौकरियाँ दिलवाना और दूसरी तरह की अनेक बातें।[12] इससे सुगमता से समझा जा सकता है कि स्वदेशी शिक्षा से जहाँ एक ओर देशभक्ति जाग्रत् होती है, वहीं दूसरी ओर समाज भी अपने अच्छे-बुरे को समझकर सशक्त बना रहता है। किन्तु जहाँ विदेशी शिक्षा स्थापित हो रही है, वहाँ पर समाज स्वयं के स्वावलम्बन को त्यागकर ब्रिटिशों पर अवलम्बित हो रहा है। वर्तमान में भी यही सब चल रहा है। समाज स्वयं के विषय में वही सोचता है जो सत्ता के लोग चाहते हैं। इस प्रकार की शिक्षा से समाज की भूमिका सीमित हो जाती है और राज्य का उस पर पूर्णरूपेण नियन्त्रण स्थापित हो जाता है।

शिक्षा के सम्बन्ध में राज्य की भूमिका

सन् 1772 से 1834 तक शिक्षा को राज्य के नियन्त्रण में लाने के आने के प्रयास ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने किये, किन्तु समाज से सहयोग के बिना वे फलीभूत नहीं हुए। उसका सबसे सशक्त उदाहरण है कि कम्पनी ने ब्रिटिश पार्लियामेंट के दबाव में आकर वर्ष 1813 में एक लाख रुपये सालाना भारत में शिक्षा के प्रसार के लिए निर्धारित तो कर दिए, किन्तु 1821 तक वे खर्च नहीं हुए, अनुपयोगी ही रहे। जब

1823 में लॉर्ड एम्हर्स्ट को राजा राममोहन राय ने ब्रिटिश शिक्षा लागू करने के लिए पत्र लिखा, तब कहीं जाकर कम्पनी ने अंग्रेज़ी शिक्षा को लागू करने के प्रयास किए। यह सही था कि भारतीय शिक्षा, कम्पनी के हितों को प्रभावित करती थी और ब्रिटिश शिक्षा न केवल उनके हितों को साधती रही बल्कि भारतीय समाज को ही दुर्बल स्थिति में ले जानेवाली थी। इसलिए पहले 1828 का विलियम बैंटिक का परिपत्र और बाद में 1835 के लॉर्ड मैकाले के भारतीय शिक्षा को परिवर्तित किए जाने सम्बन्धी लिए गए निर्णय ने भारत शिक्षा के भवितव्य को बदलकर रख दिया। यह प्रक्रिया आज भी अनवरत रूप से जारी है। 1835 से आज तक हमें अनेक अवसर प्राप्त हुए। हम चाहते तो इस अवस्था से मुक्त हो सकते थे, किन्तु समाज की आवश्यकता ने ऐसा होने नहीं दिया। राज्य तो ऐसा चाहता ही नहीं था; क्योंकि जो समाज विश्व के कल्याण की दृष्टि से क्रियाशील था, वह स्वयं के हित साधन के प्रयत्न में पड़ गया। भारतीय समाज के सामने मौलिक विचारों के अभाव में नकल करने के अतिरिक्त अन्य कुछ शेष बचा ही नहीं था। जो समाज शिक्षा के नियमन के लिए स्वयं को अवलम्बन मानता था, वही समाज राज्य पर अवलम्बित हो गया। फिर राज्य ने शिक्षा का जैसा उपयोग करना चाहा, वैसा किया। आज राज्य और बाज़ार की युति की ही इस परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। फलतः बाज़ार के अनुसार राज्य शिक्षा के नियमन का प्रपञ्च रचता है और शिक्षा सामाजिक हितों के स्थान पर व्यक्तिगत हितों की पोषणकर्ता बनती जा रही है। राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह शिक्षा के विषय में स्वयं को तटस्थ रखे और समाज को उसकी आवश्यकताओं के आधार पर चिन्तन करके उसे प्रचालित करने दे। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक शिक्षा, समाज और राज्य के सम्बन्ध विसंगतिपूर्ण ही रहेंगे।

सन्दर्भ :

1. रघुवंश महाकाव्यम्, 3.25; 9.63
2. अमरकोश, 1.4
3. शिक्षा संग्रह
4. ईशावास्योपनिषद्, 1
5. वही,10
6. वही,11
7. वैशेषिक, 1.2
8. मनुस्मृति, 6.62
9. ऑन द एजुकेशन ऑफ़ पीपुल ऑफ़ इण्डिया, पृ. 85
10. सुन्दरलाल, भारत में अंग्रेज़ी राज, खण्ड 3
11. वही
12. वही

❖❖❖

एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकों की उपादेयता

डॉ. शैलेन्द्र कुमार*

हमारे देश की विद्यालयी शिक्षा-प्रणाली में एकरूपता का अभाव है; क्योंकि पाँच से अधिक तरह के विनियामक लम्बे समय से अस्तित्व में हैं। जिस विनियामक के तहत सबसे अधिक छात्र आते हैं, वह है राज्य माध्यमिक शिक्षा बोर्ड। इसके बाद सीबीएससी, आइसीएसई और एनआईएसओ तो हैं ही, साथ ही दो अंतरराष्ट्रीय विनियामक भी हैं। अनेक विनियामक होने के कारण हमारे देश में विषय-सूची, पाठ्यक्रम आदि को लेकर प्रचुर विविधता है। आज देश में कुल विद्यालयी छात्रों की संख्या 26 करोड़ है, जो सारे विश्व में सर्वाधिक है। इतनी बड़ी संख्या में छात्रों को शिक्षा प्रदान करना अत्यन्त चुनौतीपूर्ण कार्य है। और गुणवत्तापरक शिक्षा उपलब्ध कराना तो और भी कठिन तथा जटिल कार्य है। शिक्षा की गुणवत्ता के लिए अनेक कारक उत्तरदायी होते हैं, जैसे विद्यालय में आधारभूत सुविधाओं का होना, योग्य व प्रशिक्षित शिक्षकों की उपस्थिति, विद्यालय का प्रबन्धन, छात्रों के शिक्षित व जागरूक माता-पिता, पर्याप्त मात्रा में पुस्तकों तथा अन्य पाठ्य सामग्री की उपलब्धता, शिक्षा-नीति, शिक्षा का उद्देश्य आदि-आदि। परन्तु इस लेख में केवल एक विषय : पाठ्यपुस्तक– पर ही विचार किया जाएगा। पाठ्यपुस्तक के सम्बन्ध में भी इस लेख का उद्देश्य केवल इस लघु प्रश्न पर विचार करना है कि क्या सरकार को पाठ्यपुस्तकों का निर्माण करना चाहिये?

हमारे देश में विद्यालयी छात्रों को उपलब्ध की जा रही पाठ्यपुस्तकों के मुख्यतः तीन स्रोत हैं– 1. एससीईआरटी (राज्य सरकार), 2. एनसीईआरटी (केंद्र सरकार) और 3. निजी या प्राइवेट प्रकाशक। परन्तु प्रभाव की दृष्टि से एनसीईआरटी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। एनसीईआरटी पूरे बारह वर्ष की विद्यालयी अवधि के लिए पाठ्यपुस्तकें उपलब्ध कराने का काम करती है। सामान्यतया एनसीईआरटी नये सिरे से पुस्तक-निर्माण के स्थान पर विभिन्न पुस्तकों के अंशों का संकलन और सम्पादन का काम करती है। फिर भी इतिहास-जैसे विषयों के लिए पुस्तकलेखन का काम भी करती है। जहाँ एनसीईआरटी द्वारा निर्मित पाठ्यपुस्तकों का प्रयोग केंद्र सरकार के अधीन आनेवाले विद्यालयों द्वारा किया जाता है, वहीं एससीईआरटी द्वारा निर्मित पाठ्यपुस्तकों का प्रयोग राज्यों के अधीन आनेवाले विद्यालयों द्वारा किया जाता है। राज्यों में प्राथमिक शिक्षा के लिए लगभग अनिवार्य रूप से एससीईआरटी द्वारा निर्मित पुस्तकें ही प्रयुक्त होती हैं। लेकिन ऊँची कक्षाओं के लिए एससीईआरटी की पुस्तकों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता है। उदाहरण के लिए बिहार सरकार अपने ग्यारहवीं तथा बारहवीं के छात्रों के लिए सीधे-सीधे एससीईआरटी की पुस्तकें ही उपलब्ध कराती है।

* लेखक प्रसार भारती में अपर महानिदेशक हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय संस्था होने के कारण एनसीईआरटी की पुस्तकों का उपयोग राष्ट्रव्यापी होता है। साथ ही, एनसीईआरटी की पुस्तकें एक मानक के रूप में भी प्रयुक्त होती हैं। इसलिए केंद्रीय विनियामक, जैसे– सीबीएससी द्वारा प्राधिकृत विद्यालयों के अतिरिक्त निजी क्षेत्र के विद्यालयों में भी एनसीईआरटी की पुस्तकों का प्रयोग होता है। इससे भी बड़ी बात यह है कि केंद्रीय प्रतियोगिताओं के लिए छात्र सामान्यतः एनसीईआरटी की पुस्तकों पर निर्भर होते हैं। इस प्रकार एनसीईआरटी की पुस्तकों में क्या लिखा हुआ है, इसका पूरे देश के छात्रों के मानस पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। बालमन पर एक बार जिस प्रकार की लक़ीरें खींच दी जाती हैं, वे जीवनपर्यंत विद्यमान रहती हैं। इस दृष्टि से एनसीईआरटी की पुस्तकों के स्वरूप पर विमर्श की महती आवश्यकता प्रतीत होती है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या सरकार को पुस्तक-लेखन का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए? इस मामले में दूसरे देशों की क्या स्थिति है? विशेषकर ऐसे देश, जो आधुनिक शिक्षा में हमसे कहीं आगे हैं, उनके यहाँ पाठ्यपुस्तकों को लेकर कैसी नीति आपनाई जाती है? हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि अमेरिका, जिसकी शिक्षा-प्रणाली श्रेष्ठ मानी जाती है, वहाँ पाठ्यपुस्तकों को लेकर सरकार की कोई नीति ही नहीं है। इसलिए एनसीईआरटी-जैसी कोई संस्था वहाँ होगी, इसकी कोई सम्भावना ही नहीं है। ऐसी ही स्थिति कमोबेश अन्य विकसित देशों की भी है। विकसित देशों के शिक्षा विभाग केवल शिक्षा के उद्देश्यों की बात करते हैं। उनका ध्यान इस बात पर अधिक होता है कि विद्यालयों में छात्र सुरक्षित कैसे रहें, विषय-सूची क्या हो, शिक्षा की गुणवत्ता में किस प्रकार उत्तरोत्तर सुधार हो, आदि-आदि। पुस्तकें कौन लिखेगा, किस प्रकार लिखेगा, कौन प्रकाशित करेगा, कौन उपलब्ध कराएगा-जैसे प्रश्न शिक्षा-विभागों की चिन्ता से परे होते हैं। अमेरिका के राज्य अपने हिसाब से अपनी शिक्षा-नीति बनाते हैं और उसका अनुपालन करते हैं।[1]

यूनेस्को, जिसे विश्व में शान्ति की स्थापना, निर्धनता-उन्मूलन तथा सतत विकास के लिए शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति, संचार तथा सूचना को बढ़ावा देने का दायित्व सौंपा गया है, का मानना है कि जिन देशों में व्यापक स्तर पर पाठ्य पुस्तकों के निर्माण की सुदृढ़ परम्परा और दीर्घ अनुभव है, उनके यहाँ लेखकों तथा प्रकाशकों के मध्य प्रतिस्पर्धा होती है। इसके फलस्वरूप शिक्षकों को अपने विद्यालयों के लिए सर्वोत्तम पुस्तकों के चयन की सम्भावना बनी रहती है। परन्तु बहुत ऐसे देश भी हैं जहाँ एक विषय के लिए एक ही पाठ्यपुस्तक उपलब्ध होती है। ऐसे में स्पष्ट है कि सारी शक्ति इस बात में लग जाती है कि वह अकेली पुस्तक सर्वोत्तम हो।[2] पर हम अनुभव से जानते हैं कि एक पुस्तक चाहे कितनी भी अच्छी क्यों न हो, वह अनेक पुस्तकों का विकल्प नहीं बन सकती।

फिर प्रश्न यह उठता है कि हमारे देश में पाठ्यपुस्तक-निर्माण का काम एनसीईआरटी को क्यों सौंपा गया? क्या हमारे यहाँ हर एक विषय के लिए अनेक पुस्तकें नहीं लिखी जा सकती थीं? और क्या हमें इससे अपेक्षित लाभ प्राप्त हुआ? इसका उत्तर यह है कि स्वाधीनताप्राप्ति के बाद हमने समाजवाद को अपनाया, जिसके तहत अन्य अनेक बातों के अतिरिक्त हमें ही यह निर्धारित करना था कि कौन क्या पढ़ेगा। इस प्रकार हमारे देश में स्वाधीनताप्राप्ति के बाद से शिक्षा के क्षेत्र में अधिकतम शासकीय हस्तक्षेप आरम्भ हुआ। हम देखेंगे कि हमें इससे बहुत हानि हुई है। चूँकि सरकार ने पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का दायित्व अपने ऊपर लिया और इन पुस्तकों को अनिवार्य कर दिया, इसलिए हमारे यहाँ लेखकों और प्रकाशकों के बीच प्रतिस्पर्धा का वातावरण नहीं बन पाया। इसका परिणाम यह हुआ कि हम 'एक विषय-एक पाठ्यपुस्तक' वाला देश बन गये।

सामान्यतया पाठ्यपुस्तकों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं– 1. विज्ञान, 2. कला या

सामाजिक विज्ञान तथा 3. वाणिज्य की पुस्तकें। वैसे तो इस प्रकार का स्पष्ट वर्गीकरण ग्यारहवीं तथा बारहवीं कक्षाओं के लिए है, परन्तु छोटी कक्षाओं में भी इन्हीं वर्गों के अलग-अलग विषय पढ़ाए जाते हैं। भाषा और साहित्य एक ऐसा विषय है जो लगभग सभी कक्षाओं में पढ़ाया जाता है। इस प्रकार यदि हम ध्यान से विचार करें, तो पाते हैं कि विज्ञान और वाणिज्य के लिए एनसीईआरटी को बहुत कुछ नया नहीं करना पड़ता है। विज्ञान के लिए तो ध्यातव्य है कि निजी प्रकाशकों की पुस्तकों की भी पर्याप्त मांग सदैव बनी रहती है। इसलिए एनसीईआरटी विज्ञान की पुस्तकें प्रकाशित करे या न करे, इससे बहुत अधिक अन्तर नहीं पड़ेगा। इसी तरह की स्थिति वाणिज्य की पुस्तकों को लेकर भी है। लेकिन सामाजिक विज्ञान के साथ-साथ भाषा और साहित्य-जैसे विषयों के लिए एनसीईआरटी की भूमिका बहुत बढ़ जाती है। सामाजिक विज्ञान में भी इतिहास एकमात्र ऐसा विषय है, जिसके लिए नूतन पुस्तकें लिखी जाती हैं। भाषा और साहित्य के लिए कहानी, कविता आदि का केवल चयन किया जाता है। इस दृष्टि से भाषा और साहित्य के लिए सम्पादन ही मुख्य काम होता है।

उपर्युक्त वस्तुस्थिति की विवेचना करने पर हम पाते हैं कि पाठ्यपुस्तकों को लेकर एनसीईआरटी की भूमिका अपरिहार्य नहीं है। अर्थात् यदि एनसीईआरटी पुस्तक-निर्माण का काम न भी करे, तो निजी स्रोतों से पुस्तकें प्राप्त की जा सकती हैं। हम तर्क करने के लिए तर्क कर सकते हैं कि स्वाधीनताप्राप्ति के तुरन्त बाद सम्भवतः हमारे लेखक और प्रकाशक इस योग्य नहीं थे कि पाठ्यपुस्तकों की मांग को पूरा करते। परन्तु अब तो ऐसा तर्क नहीं दिया जा सकता। अब तो देश इससे भी बड़ी चुनौतियों का सामना करने के योग्य है।

पर प्रश्न उठता है कि एनसीईआरटी द्वारा किए जा रहे इस काम से क्या हानि हो रही है जिससे हम इसके विकल्प पर विचार करें। एनसीईआरटी द्वारा किए जा रहे पुस्तक-निर्माण की सबसे पहली कमी तो यह है कि इसकी पुस्तकें अद्यतन नहीं होतीं। चाहे किसी भी कक्षा की पुस्तक क्यों न हो, यदि उसे अद्यतन बनाना है तो एनसीईआरटी कम-से-कम एक दशक तो लेती ही है। सरकारी संस्था होने के कारण सरकार की तमाम कमियाँ इस संस्था में भी हैं और लाख चाहने पर भी यह काम कभी भी समय पर पूरा नहीं हो पाता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि करोड़ों छात्र पुरानी पुस्तकें पढ़ने को बाध्य होते हैं।

दूसरी सबसे बड़ी कमी है समय पर पुस्तकों का उपलब्ध न होना। यूनेस्को का, जो कि सारे विश्व की शिक्षा पर नज़र रखता है, कहना है कि पुस्तकों का समय पर प्रकाशन और उसकी उपलब्धता सुनिश्चित कराना अपने आप में बहुत बड़ी चुनौती होती है। इसलिए कई बार हम ऐसी ख़बर पढ़ते हैं कि शैक्षणिक सत्र आरम्भ होने के समय छात्रों को एनसीईआरटी की पुस्तकों के अभाव का सामना करना पड़ता है। वैसे तो अब ये पुस्तकें ऑनलाइन उपलब्ध हैं। परन्तु एक तो सबके पास यह सुविधा नहीं होती। दूसरे, बिना प्रिंट कराए बच्चों का काम नहीं चल सकता। स्पष्ट है कि जिस दक्षता के साथ निजी क्षेत्र इस काम को कर सकता है, सरकार नहीं कर सकती।

एनसीईआरटी की पुस्तकों के अनूदित संस्करणों में भाषायी अशुद्धियाँ आम होती हैं। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि आज तक भाषा-साहित्य को छोड़कर किसी और विषय की पुस्तकें किसी भी भारतीय भाषा में नहीं लिखी जातीं। यहाँ भी शुद्ध सरकारी मनोभाव से काम होता है। यानी सबसे पहले सारे विद्वान् बैठकर अंग्रेज़ी में लिखते हैं उसके बाद उसका भारतीय भाषाओं में अनुवाद होता है। इस प्रकार सारी भारतीय भाषाएँ सिर्फ़ और सिर्फ अनुवाद की भाषाएँ बनकर रह जाती हैं। वर्तमान सोच के हिसाब से भारतीय भाषाओं में एनसीईआरटी द्वारा पुस्तक लेखन का काम नहीं हो सकता। अनुवाद की भाषा कृत्रिम होती है। अंग्रेज़ी और भारतीय भाषाओं के स्वभावगत अन्तर की अनदेखी की जाती है। ऐसे

अनुवाद को पढ़ने में आनन्द नहीं आता है। अनुवादक को अपनी भाषा के ज्ञान के साथ-साथ उस विषय में भी प्रवीण होना अनिवार्य है जिसका उसे अनुवाद करना होता है। परन्तु ऐसा संयोग दुर्लभ होता है। अंग्रेज़ी में लिखनेवाले अनूदित पाठ्य को सम्भवतः देखते भी नहीं हैं। और यदि देखते भी होंगे तो उनका भारतीय भाषा का ज्ञान कम होने के कारण वे अनुवाद के साथ न्याय नहीं कर पाते होंगे। इस प्रकार यह शाश्वत समस्या बन गई है। और इसका हल ढूँढ़ना एनसीईआरटी की क्षमता से बाहर है। सरकारी नियमों की जकड़बन्दी के कारण उसके लिए यह सम्भव नहीं कि वह मौलिक रूप से भारतीय भाषाओं में पुस्तक-निर्माण का काम सुरुचिपूर्ण तरीके से करे। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रंथ की रचना की। इस पुस्तक को इतिहास की श्रेणी में भी रखा जा सकता है। चूँकि यह मौलिक पुस्तक है, अतएव इसकी भाषा, कथ्य, लेखनशैली आदि-आदि इतने रोचक हैं कि पाठक इसको पढ़कर आनन्द उठाता है। इसी तरह की अनेक पुस्तकें हैं जिनको पढ़कर छात्र लाभान्वित हो सकते हैं, परन्तु ऐसी पुस्तकों को पढ़ने के स्थान पर हम अंग्रेज़ी की जूठन पढ़ने को बाध्य किए जाते हैं।

दूसरी ओर एनसीईआरटी की उपस्थिति ने छात्रों के लिए स्वतन्त्र लेखन को हतोत्साहित किया है। यदि विद्यालयों पर पाठ्यपुस्तकों के चयन का दायित्व सौंप दिया जाए, तो कहीं बेहतर पाठ्य सामग्री उपलब्ध होगी। कुछ सीमा तक आज भी ऐसा हो रहा है। सातवीं-आठवीं कक्षा से ही आईआईटी-जैसे संस्थानों में प्रवेश की तैयारी के लिए छात्र स्वतंत्र लेखकों द्वारा लिखी पुस्तकों या पाठ्य सामग्री का उपयोग करना आरम्भ कर देते हैं। इसलिए यदि एनसीईआरटी की अनिवार्यता समाप्त कर दी जाए, तो स्वतंत्र लेखन की बाढ़ आ जायेगी। हाँ, इतना अवश्य होगा कि बहुत सारी पुस्तकें स्तरहीन भी होंगी। लेकिन इससे बहुत फ़र्क नहीं पड़ेगा; क्योंकि हर पुस्तक के अनेक विकल्प उपलब्ध होंगे। अंततः इससे मौलिक लेखन को बढ़ावा मिलेगा और भारतीय भाषाओं में भी मूल रूप से पुस्तकें लिखी जाएँगी।

जिस विषय से देश की सर्वाधिक हानि हुई है वह है इतिहास। यह एकमात्र विषय है जिसकी पुस्तकें एनसीईआरटी द्वारा मनोनीत विद्वानों द्वारा लिखी जाती हैं। इस विषय में लेखकों की विचारधारा अत्यन्त मुखर होकर सामने आती है। आठवीं शती से मुस्लिम हमलावरों ने अपने हिसाब से इतिहास लिखवाया। इतिहास मुख्यतः उनके दरबारियों ने लिखा। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि एकांगी थी। फिर भी आज जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है वह इन दरबारियों द्वारा लिखित इतिहास पर बहुत सीमा तक निर्भर है। इसके अतिरिक्त मध्यकाल में आए विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृत्तांत पर भी हमारा इतिहास निर्भर है। विदेशी यात्रियों में या तो मुस्लिम हैं या यूरोपीय। दोनों का ही अपना-अपना उद्देश्य था जिस कारण हमारे लिए उनके वृत्तांत का न्यूनतम उपयोग ही सम्भव है। मुस्लिम यात्रियों में सर्वप्रसिद्ध है इब्नबतूता। इब्न बतूता के बारे में वी.एस. नायपल अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि उसका लक्ष्य था तत्कालीन सभी मुस्लिम देशों का भ्रमण करना और इसके लिए वह उस समय के निरंकुश सुलतानों के दान पर निर्भर रहता था।[3] ऐसे में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इब्न बतूता का वृत्तांत किस सीमा तक हमारे काम का हो सकता था!

असल में इतिहासलेखन में आरम्भ से ही ख़ामियाँ रही हैं। सबसे बड़ी ख़ामी तो यह रही कि हमारे इतिहासकार अंग्रेज़ों या पश्चिमी इतिहासकारों की एक निर्मित धारणा का मुखर उत्तर नहीं दे सके कि आर्य बाहर से आए थे। इससे आर्य-द्रविड़ का विवाद आरम्भ हुआ। इतने लम्बे समय तक किसी टूटे रिकार्ड की तरह एक ही धुन बजाई गई जो आज भी लोगों के मन-मस्तिष्क में कायम है। दुर्भाग्य यह है कि सम्भवतः हमारे एनसीईआरटी के लेखकों ने प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया और जिस कारण से 'आर्य' शब्द का सटीक अर्थ लगा नहीं पाये। कालिदास की रचनाओं में राजा-रानी, विदूषक, विद्वान्

आदि को 'आर्यपुत्र', 'आर्या'-जैसे शब्दों से सम्बोधित किया गया है। इसी तरह 'द्रविड़' एक ऐसा शब्द है जिससे एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र का बोध होता है न कि किसी जाति विशेष का। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने राष्ट्रगीत में 'द्रविड़' शब्द का प्रयोग एक भौगोलिक क्षेत्र के रूप में ही किया है। इन सब पारम्परिक प्रमाणों की अनदेखी करके हम भी आर्य-द्रविड़ के भेद में पड़ गए, जिससे हमारे देश की अपूरणीय क्षति हुई।

एनसीइआरटी की आठवीं कक्षा की पुस्तक में 'आर्य' के बारे में ज्योतिबा फुळे के सन्दर्भ में क्या पढ़ाया जा रहा है : 'फुळे का तर्क था कि आर्य विदेशी थे, जो इस उपमहाद्वीप के बाहर से आए थे और जिन्होंने यहाँ के भूमिपुत्रों को पराजित करके अपने अधीनस्थ किया। चूँकि आर्य यहाँ के भूमिपुत्रों पर हावी हो गए इसलिए उन्होंने भूमिपुत्रों को अपने से निम्न जाति का माना।'[4]

इसी तरह देखिए कि एनसीईआरटी की आठवीं कक्षा की पुस्तक में पेरियार के सन्दर्भ में 'आर्य' को लेकर क्या पढ़ाया जा रहा है : 'ब्राह्मणेतर आंदोलन की शुरूआत बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई। इसके लिए ब्राह्मणेतर जातियों द्वारा पहल की गई, जिनका मानना था कि ब्राह्मण 'आर्य' आक्रमणकारियों के वारिस हैं और इन्हीं ब्राह्मणों ने दक्षिण भारत की मूल द्रविड़ जातियों पर विजय प्राप्त की।'[5]

इसी प्रकार मुस्लिम आक्रमणकारियों के द्वारा किए गए अत्याचारों को कम करते-करते ऐसी स्थिति हो गई कि इतिहास की पुस्तक में सिंध पर आक्रमण के बाद आए अरबों के लिए लिखा जाने लगा कि 'भारत की पश्चिमी किनारे पर अरबों का आगमन हुआ और उनकी सत्ता स्थापित हुई'।[6] इसका बालमन पर कैसा प्रभाव पड़ेगा? सम्भव है, भविष्य में यही समझा जाएगा कि अरबों को भारत ने आमन्त्रित किया था। जबकि सच्चाई यह है कि मुहम्मद पैग़ंबर की मृत्यु के दो वर्ष के बाद से ही सिंध के हिंदू राज्य पर अरबों का आक्रमण आरम्भ हो गया। कुल मिलाकर 634 से 710 ई. के बीच नौ आक्रमण किए गये। इन आक्रमणों का संचालन सीरिया में बैठे ख़लीफा ने किया। भीषण रक्तपात, लूट तथा लोगों को दास बनाए जाने के कारण सिंध के आक्रमण याद किए जाते हैं।[7] हम कहीं भी यह नहीं पढ़ते कि किस प्रकार पूरी इस्लामी सत्ता के विरुद्ध एक राज्य ने लगभग आठ दशकों तक संघर्ष किया।

इसी तरह दिल्ली सल्तनत के इतिहास में कहीं भी स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख नहीं मिलता है कि इस कालखण्ड में प्रजा के बीच मजहब के आधार पर भेद किया गया और ग़ैर-मुस्लिम समुदाय से तरह-तरह के 'कर' जैसे तीर्थकर, जजिया, ऊँची दरों पर व्यापार कर आदि लिए गए। हज़ारों की संख्या में मन्दिरों को तोड़ा गया। नये मन्दिरों के निर्माण पर रोक लगाई गई। इसी तरह बलात् मुसलमान बनाए जाने को लेकर भी कुछ विशेष नहीं लिखा जाता। यह हमारे इतिहास का क्रूर पक्ष है, पर हम इसकी अनदेखी नहीं कर सकते। हमारे बच्चों को सब कुछ जानने का अधिकार है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इतने प्रयासों के बाद भी सत्य सामने आ ही जाता है। दिल्ली सल्तनत के बारे में पढ़ने के बाद जब हम अकबर को पढ़ते हैं, तो अकबर की प्रशंसा में कहा जाता है कि अकबर ने तीर्थ कर तथा जजिया-जैसे विभेदकारी करों को समाप्त कर दिया। यहाँ चिन्तनशील छात्र अचानक पूछ सकते हैं कि ये 'कर' लगाए कब गए जिन्हें अकबर को हटाना पड़ा। अतः यदि आरम्भ में ही बता दिया गया होता कि इस्लामी राज्यों में ग़ैर-मुस्लिमों से अनेक कर वसूले जाते थे, तो छात्र इस्लामी व्यवस्था के चरित्र से अवगत हो जाते। एक दूसरी तरह से भी इसका बच्चों के मानस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वह यह कि चाहे सत्य को जितना भी छुपाया जाए, बाद में किसी-न-किसी प्रकार से सत्य उजागर हो ही जाता है। और ऐसी स्थिति में बच्चों ने जो कुछ भी पढ़ा है, उस सबके प्रति वे सन्देहशील हो जाते हैं। आज सोशल मीडिया के युग में इसकी

सम्भावना और भी बढ़ गई है। अब इतिहास के अनेक स्रोत बन गए हैं। इसलिए वही बच्चे जब बड़े होंगे, तो उनके विचार बदल जाएँगे।

इतिहास को लेकर प्रश्न किया जा सकता है कि हम इसे क्यों पढ़ें? दरअसल इतिहास पढ़ना इसलिए आवश्यक है कि हम अपने अतीत को जानें। जो कुछ भी हमारे पुरखों ने अच्छा किया है, उसे आगे बढ़ाएँ, उस पर गर्व करें और उनसे हुई ग़लतियों से सीखें। दोनों ही स्थितियों में सत्य से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। इसमें सुंदरता और कुरूपता एकसाथ हो सकती है। लेकिन हम देखते हैं कि मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा किए गए आत्याचारों को या तो रैशनलाइज किया जाता है अथवा जस्टिफाई किया जाता है। इस्लाम का अचानक उभार सारे विषय के लिए एक अप्रत्याशित घटना थी। इससे पहले कभी भी किसी मजहब को केन्द्र में रखकर साम्राज्य-विस्तार की बात नहीं सोची गई। इस्लाम अपने आपको सबसे अलग और सबसे विशिष्ट मानता रहा है। इसमें हिंसा की निन्दा नहीं की गई है। ग़ैर-मुसलमानों को मुसलमान बनाने के लिए इस्लाम किसी भी सीमा तक जा सकता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस्लाम के जन्म से पहले अरब में कोई मुसलमान नहीं था। लेकिन अपने जन्म के सौ साल के अन्दर यह पश्चिम में मोरक्को से लेकर पूर्व में सिंध तक फैल गया। इसके फैलने में अनेक कारक सहायक थे। परंतु सबसे बड़ा कारक थे तलवार और उससे जुड़ी राजसत्ता। बलप्रयोग, लोभ, लालच, भय आदि के माध्यम से लोगों को मुसलमान बनाया गया और जो एक बार मुसलमान बन गया, उसे उस मजहब से बाहर निकलने की अनुमति नहीं मिली। बाहर निकलना तो बहुत दूर की बात रही, कोई इस मजहब की तार्किक व्याख्या भी नहीं कर सकता था। इस तरह विश्व का सामना एक नये तरह के कट्टर मजहब से हुआ। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उस समय इसे एक भी देश रोकने में सफल नहीं हुआ। इसका युद्धशास्त्र नया था जिसमें उचित-अनुचित का अधिक ख़याल नहीं था। युद्ध की कोई नीति नहीं थी। बस जीतना ही लक्ष्य था। इसमें चहुँओर हिंसा थी। जब इतने सारे देश इस्लाम से परास्त हो गए, तो इसमें भारत की पराजय में क्या आश्चर्य! परन्तु इस बात की चर्चा किए बग़ैर इतिहासकार हमारे देश की तमाम कमियों की चर्चा करना पसन्द करते हैं। एक पल के लिए यदि मान भी लिया जाए कि हमारे देश में अनेक ख़ामियाँ थीं, इसलिए हम हार गये; पर बाकी देशों में तो ऐसी कमियाँ नहीं थीं, फिर वे क्यों हार गये? वह ईरान, जो रोमन साम्राज्य से नहीं हारा था, ताश के पत्तों की तरह इस्लामी ताकत के आगे नहीं ढह गया? पर उसके बारे में कोई नहीं कहता कि उसकी कमियाँ क्या थीं। ईरान को परास्त करने के बाद किस तरह बलात् वहाँ के लोगों को मुसलमान बनाया जाने लगा कि अनेक पारसी भाग खड़े हुए और आज वे भारत में इन सारी घटनाओं का प्रमाण हैं।

इस्लामी आक्रमणों के रास्ते में आया भारत विश्व का एकमात्र ऐसा देश है जो अपनी प्राचीन संस्कृति सुरक्षित रखने में सफल रहा। ईरान की प्राचीन संस्कृति नष्ट हो गयी। इसी तरह इराक, सीरिया, मिस्र आदि की भी प्राचीन संस्कृति नष्ट हो गयी। यहाँ तक कि बहुत बाद में मुसलमान बनाए गए देश इण्डोनेशिया और मलेशिया की भी संस्कृति बहुत सीमा तक या तो नष्ट हो गई है या विस्मृत हो रही है। वहाँ भी अरबी थोपी गई है। अधिकतर लोगों के नाम भी अरबी हो गए हैं। कभी अरब क्षेत्र में ईसाई और यहूदी बड़ी संख्या में रहते थे। परन्तु आज मुसलमान-ही-मुसलमान हैं। भारत द्वारा अपनी संस्कृति को बचाए रखना न केवल भारत के लिए अपितु सारे विश्व के लिए एक अनोखी घटना है। परन्तु सम्भवतः हम नहीं जानते कि भारतीयों ने इसकी कैसी और कितनी बड़ी क़ीमत अदा की है! यह भी एक विडम्बना ही है कि इस बात के महत्त्व को समझनेवाला एक मुसलमान ही था। इकबाल ने ही लिखा, 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी'। क्या इतिहास की पुस्तकों में इस अनोखे पहलू का उल्लेख नहीं होना चाहिए? इस तरह

के अनेक विषय हैं जिनका समावेश इतिहास की पुस्तकों में होना चाहिए।

अतः प्रश्न है कि यदि एनसीईआरटी की पुस्तकों का प्रयोग बन्द कर दिया जाए, तो हमारे पास विकल्प क्या है? विकल्प यह है कि सरकार सिर्फ़ शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करे। विषय-सूची निर्धारित करे। यह भी निर्धारित करे कि छात्र क्या सीखकर विद्यालय से बाहर निकलेंगे। इसके बाद सब कुछ विद्यालयों पर छोड़ दे। विद्यालय चाहे सरकारी हो या प्राइवेट नीति एक समान होनी चाहिए। इस प्रकार की स्वायत्तता विद्यालय और उसके शिक्षकों को अधिक ज़िम्मेदार बनाएगी। स्वतंत्र रूप से पाठ्यपुस्तक लिखनेवालों की मांग बढ़ेगी। फिर भारतीय भाषाओं में भी मौलिक पुस्तकें लिखी जाएँगी। इतिहास-जैसे विषयों के लिए भी विकल्पों की झड़ी लग जाएगी। कम-से-कम एक विचारधारा से प्रभावित पुस्तकों की अनिवार्यता समाप्त हो जाएगी। और इसी के साथ सरकारी विचारधारा के चंगुल से भी पाठ्यपुस्तकें सदा के लिए मुक्त हो जाएँगी।

भारत में शिक्षा की वर्तमान स्थिति के लिए बहुत सीमा तक केंद्र सरकार उत्तरदायी है। असल में शिक्षा पूरी तरह राज्य का विषय होना चाहिए; क्योंकि लगभग 95 प्रतिशत छात्र राज्यों के अंतर्गत आनेवाले विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पढ़ते हैं। पिछले दो दशकों से निजी विश्वविद्यालयों का चलन ज़ोर पकड़ रहा है। फिर भी देश के सर्वाधिक छात्र राज्यों में ही पढ़ते हैं। इस तरह संख्या की दृष्टि से सबसे कम छात्र केंद्रीय संस्थानों में पढ़ते हैं। परन्तु देश के सर्वाधिक संपन्न संस्थान केंद्रीय संस्थान ही हैं। राज्यों के पास धन का अभाव होता है। इसलिए वे शिक्षा पर अपेक्षित धन खर्च नहीं कर पाते हैं। परिणामस्वरूप राज्यों में शिक्षा की गुणवत्ता में लगातार ह्रास हुआ है। आदर्श स्थिति तो यह होती कि केन्द्र सरकार अपने संस्थान खोलने के स्थान पर राज्यों के संस्थानों के लिए अधिक धन उपलब्ध कराती। चंद केन्द्रीय संस्थान हार्वर्ड या ऑक्सफोर्ड क्यों न बन जाएँ, जब तक राज्यों के संस्थानों की स्थिति में पर्याप्त सुधार नहीं होगा, तब तक देश के अधिकतर छात्र अच्छी शिक्षा से वंचित ही रहेंगे। इस तरह राज्यों को इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वे अपने हिसाब से पाठ्यक्रम तय करें। परंतु राज्यों को भी पाठ्यपुस्तक लिखवाने जैसे काम में नहीं लगना चाहिए।

उपर्युक्त के अतिरिक्त एनसीईआरटी को लेकर सबसे बड़ी समस्या यह है कि यह एक सरकारी संस्था है और इसलिए सरकार की विचारधारा और एजेंडे से प्रभावित होती रही है। इस दृष्टि से यदि किसी विशेष समय में सब कुछ ठीक-ठाक चल भी रहा हो, तो इस बात की कोई गारंटी नहीं कि कब स्थिति में परिवर्तन हो जाए। अन्ततः एनसीईआरटी-जैसी संस्था को चलाने में जो धन लग रहा है, उसका सदुपयोग राज्यों की शिक्षा के स्तर को ऊपर उठाने में होना चाहिए। इससे देश कहीं अधिक लाभान्वित होगा।

सन्दर्भ :

1. "State Regulation of Private Schools", US Department of Education, 2009, https://www2.ed.gov/admins/comm/choice/regprivschl/regprivschl.pdf
2. Seguin, Roger, "The Elaboration of School Textbooks: Methodological Guide," UNESCO, 1989
3. Naipaul, V. S., "Beyond Belief : Islamic Excursions Among the Converted Peoples", PICADOR, 1998, p. 357
4. Our Pasts —III, Part 2, Textbook in History for Class VIII, NCERT, 2008, p. 117
5. Ibid, p.119
6. अतीत से वर्तमान, भाग-2, कक्षा-7, बिहार स्टेट टेक्स्टबुक पब्लिशिंग कर्पोरेशन, पृ. 22 (प्रकाशन-वर्ष का उल्लेख नहीं है, पर पुस्तक में वर्ष 2016-17 तक का उल्लेख है और आज यह पुस्तक पढ़ाई जा रही है।)
7. Naipaul, V. S., "Beyond Belief : Islamic Excursions Among the Converted Peoples", PICADOR, 1998, p.351

अंतरराष्ट्रीय नकल और भारतीयता से विमुख शिक्षा-नीति

रवि शंकर

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2019 सरकार ने जनता के सामने प्रस्तुत कर दिया है। इस शिक्षा नीति पर चर्चा करने से पहले आवश्यक है कि हम यह समझ लें कि यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति नहीं, बल्कि राजकीय शिक्षा नीति है। यदि इस नीति को देश के शिक्षाविदों, धर्माचार्यों और सामाजिक लोगों ने मिलकर घोषित किया होता, तो इसे हम 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति' कह सकते थे, परंतु चूँकि इसे बनवाने और घोषित करने का काम सरकार ने किया है, इसलिए यह एक 'राजकीय शिक्षा नीति' मात्र ही है। भारतीय परएपरा में शिक्षा कभी भी राज्य की नीति का विषय नहीं रही है। भारतीय परम्परा शिक्षा को हमेशा से समाज का कार्य ही मानती रही है। शिक्षा के बारे में सभी नीतिगत निर्णय आचार्यों के ज़िम्मे रहा है। राजा अथवा राज्य का काम तो केवल संसाधन उपलब्ध कराना और सुरक्षा प्रदान करना मात्र रहा है। शासकों के प्रशिक्षण की भी नीतियाँ भी राज्य तय नहीं करता था। शासकों के प्रशिक्षण की नीतियाँ भी विद्वान् आचार्य ही बनाते रहे हैं, राजा-महाराजा या उनके मंत्रीगण नहीं। यह व्यवस्था देश में 19वीं शताब्दी के मध्य तक बहुत ही सफलतापूर्वक चलती रही है। इस व्यवस्था से छेड़छाड़ अंग्रेज़ों ने की। ऐसा उन्होंने क्यों और कैसे किया, इसकी चर्चा अन्यान्य आलेखों में की ही गई है। इसलिए यहाँ उसका उल्लेख नहीं करते हुए, केवल राष्ट्रीय और राजकीय नीतियों में जो अन्तर होना चाहिए, उसके आधार पर इस नयी शिक्षा नीति की समीक्षा की जाएगी।

सबसे पहले हमें यह जानना चाहिए कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति की निर्माण समिति में कुल 11 सदस्य हैं। दुर्भाग्य से इनमें से एक भी भारतीय दर्शन, वेदादि संस्कृत वाङ्मय और भारतीय विज्ञान परम्परा का विद्वान् नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि सदस्यों का चुनाव करते समय भी सेकुलरिज्म आदि चुनावी राजनीतिक आयामों का ध्यान रखने का प्रयास किया गया है और इसलिए शिक्षा की भारतीय परम्परा के विद्वानों के बजाय विभिन्न मतों के लोगों को रखने का प्रयास किया गया है। समिति के कई लोग वस्तुतः प्रशासन के लोग हैं न कि शिक्षा के। ऐसे में शिक्षा पर कितनी गम्भीरता से विचार किया जा सका होगा, सहज विचारणीय है। समिति ने देशभर से आए सुझावों का भी इसमें ध्यान रखा है। जब जनसुझाव मंगवाए जाते हैं, तो न चाहते हुए भी बहुमत का दबाव बनने लगता है, जो कि किसी भी शिक्षाविद् के लिए उपयुक्त नहीं है। यदि अधिक लोग किसी एक बिंदु पर सुझाव दे रहे हों तो किसी भी समिति के लिए उसकी उपेक्षा सम्भव नहीं है। शिक्षा-जैसे विषय को बहुमत से तय किया जाना किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिए इस शिक्षा-नीति में ऐसी अनेक विसंगतियाँ दिखती हैं, जो कि किसी भी

शिक्षाविद् द्वारा की नहीं जानी चाहिए।

कुल 650 पृष्ठों की इस पूरी शिक्षा नीति को चार भागों में बाँटा गया है– 1. स्कूली शिक्षा, 2. उच्च शिक्षा, 3. अतिरिक्त प्रमुख फोकस क्षेत्र और 4. शिक्षा में बदलाव। इन चार विभाजनों और उसके लिए प्रयुक्त हिंदी-शब्दों को देखा जाए तो हैरानी होती है कि यदि शिक्षाविदों के पास भी हिंदी-शब्दों का इतना अभाव क्यों था। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल शिक्षा-नीति अंग्रेज़ी-भाषा में ही बनाई गई थी। यानी समिति के अधिकांश सदस्य अंग्रेज़ी में ही सोचने-समझनेवाले लोग हैं, भारतीय भाषा में नहीं। इसका हिंदी-संस्करण अंग्रेज़ी में लिखे गए मूल का अनुवादमात्र है और वह अनुवाद भी काफ़ी भद्दा है। उदाहरण के लिए 'स्कूली शिक्षा' को 'विद्यालयीन शिक्षा' और 'अतिरिक्त प्रमुख फोकस क्षेत्र' को 'अन्य महत्त्वपूर्ण बिंदु' लिखा जा सकता था। इसी प्रकार पूरे हिंदी-संस्करण में इसी प्रकार अनावश्यक अंग्रेज़ी-शब्दों का भरपूर प्रयोग किया गया है। भाषा से अनभिज्ञता होना किसी भी शिक्षा समिति के लिए उचित नहीं ठहराया जा सकता। शिक्षा नीति का यह विभाजन भी बहुत सटीक नहीं है। 'अतिरिक्त प्रमुख फोकस क्षेत्र' में जो बिंदु लिए गए हैं, वे वास्तव में मूल शिक्षा का भाग होने चाहिए। यह समझ पाना कठिन है कि स्कूली शिक्षा से व्यावसायिक शिक्षा को कैसे भिन्न रखा जा सकता है। यदि शिक्षा हमें व्यावहारिक जीवन का ज्ञान नहीं दे पाएगी, तो उस शिक्षा से लाभ क्या होगा। यदि शिक्षा को कुछेक हिस्सों में बाँटा ही जाना था, तो इसके दो भाग होने थे– 1. परा शिक्षा और 2. अपरा शिक्षा। उपनिषदों में विद्या को 'परा' और 'अपरा' के नाम से जाना जाता है। 'परा' यानी परमात्मा को जानने की विद्या और 'अपरा' यानी इस संसार के संचालन की विद्या। शिक्षा के प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च आदि विभाजन वस्तुतः यूरोपीय विभाजन हैं और इनका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है। इन दोनों विभाजनों की मूलभूत स्थापनाओं और दोनों में अन्तर की जानकारी का अभाव होने के कारण होता यह है कि प्राथमिक से लेकर उच्च तक बच्चों को केवल पराविद्या की यूरोपीय भौतिक जानकारी को ही पढ़ाया जाता है, जिससे विद्यार्थी व्यावहारिक तथा सांसारिक ज्ञान से तो अछूता रह ही जाता है, साथ ही वह पराविद्या में भी तज्ञ नहीं हो पाता है। संदेहास्पद ही है कि इस समिति के सदस्यों में से किसी को परा तथा अपरा विद्या के भेद की जानकारी भी रही होगी। इस बारे में ईशोपनिषद् में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा गया है– **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययौमृतमश्नुते** यानी अपरा विद्या जिसे यहाँ अविद्या कहा गया है, से मृत्यु को जीतकर परा विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति की जा सकती है। स्वाभाविक ही है कि विद्यार्थियों को दोनों की ही जानकारी दी जानी चाहिए।

इस शिक्षा नीति का जो उद्देश्य तत्कालीन केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री प्रकाश जावड़ेकर ने बताया है, वह इस प्रकार है– लोगों की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, नवाचार और अनुसन्धान-सम्बन्धी आवश्यकताओं के बदलते परिदृश्य का सामना करने के लिए ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा नीति को लागू किया जाएगा, जिसका उद्देश्य होगा छात्रों को आवश्यक कौशलों एवं ज्ञान से लैस करना और विज्ञान, टेक्नोलॉज़ी, अकादमिक क्षेत्र और इण्डस्ट्री में लोगों की कमी को दूर करते हुए, देश को नॉलेज़ सुपरपावर के रूप में स्थापित करना। यह उद्देश्य शिक्षा के मूल उद्देश्य से ही भटका हुआ है। छात्रों को ज़रूरी कौशलों और ज्ञान से लैस करने का उद्देश्य है तकनीकी, अकादमिक जगत् और उद्योगों के लिए कर्मचारी तैयार करना। नॉलेज़ सुपरपावर एक बहुत ही आकर्षक शब्द है, परन्तु जब तक इसकी सटीक व्याख्या नहीं की जाती जोकि अंग्रेज़ी के शब्दों की करनी आवश्यक होती ही है, तब तक इसे समझ पाना कठिन है। यदि हम केवल शब्दार्थ की बात करें, तो इसका अर्थ केवल इतना है कि ज्ञान के अपरिमित भण्डार के रूप में विश्व में भारत को स्थापित करना। किस प्रकार के ज्ञान का भण्डार बनाना है, यह इसमें स्पष्ट नहीं होता है। शिक्षा नीति के 'विज़न' में लिखा गया है– भारत की नयी शिक्षा प्रणाली के विज़न को इस प्रकार तैयार

किया गया है कि यह देश के प्रत्येक नागरिक के जीवन को स्पर्श करे। एक ओर देश के कई बढ़ती विकासात्मक ज़रूरतों में योगदान करने में उनकी क्षमता के अनुरूप हो, और दूसरी ओर एक न्यायसंगत और निष्पक्ष समाज बनाने की दिशा में भी हो। इसमें भी शिक्षा के उद्देश्य को चुनावी राजनीतिक मुद्दों के इर्द-गिर्द ही रखा गया है। व्यक्ति को सक्षम, सभ्य और सुसंस्कृत बनाने की बात करने के बजाय न्यायसंगत और निष्पक्ष समाज की चर्चा करना केवल चुनावी राजनीतिक दृष्टिकोण का ही परिचायक है। यह दृष्टिकोण पहले से ही समाज को अन्यायी और पक्षपाती मानकर विचार कर रहा है और इस प्रकार यह स्वयं में एक पक्षपाती दृष्टिकोण है।

शिक्षा – अधिकार नहीं, कर्तव्य

'विज़न' को स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है– '1948 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में अपनाए गए ऐतिहासिक मानवाधिकार को सार्वभौमिक घोषणा बताती है कि सभी को शिक्षा का अधिकार है। घोषणा में अनुच्छेद 26 में कहा गया है कि कम-से-कम प्रारम्भिक और मौलिक चरणों में, शिक्षा मुक्त होनी चाहिए और प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होगी। और यह भी कि शिक्षा, मानव व्यक्तित्व के पूर्ण विकास और मानवाधिकारों के मौलिक स्वतन्त्रता के सम्मान को प्रोत्साहित और मज़बूत करने के लिए निर्देशित की जाएगी। यह विचार कि शिक्षा का परिणाम 'मानव व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास' के रूप में होना चाहिए जो 'लर्निंग ः द ट्रेजर विदिन'-जैसे प्रभावी रिपोर्टों में दिखता है, जो जैक्स डेलर्स की अध्यक्षता में 21वीं सदी के लिए अंतरराष्ट्रीय शिक्षा आयोग ने 1996 में यूनेस्को को प्रस्तुत किया था।'

इस पूरे दृष्टिकोण में पहली कमी तो कर्तव्य को अधिकार के रूप में प्रस्तुत करना है। शिक्षा देना समाज का कर्तव्य है न कि किसी बच्चे का अधिकार। यदि हम इसे अधिकार मानें, तो एक बच्चा अपना अधिकार किस प्रकार लेने में सक्षम होगा, यह भी इसके प्रस्तोताओं को बताना चाहिए। भारतीय विचार शिक्षा को कर्तव्य के रूप में स्वीकार करता है। कहा गया है– **माता शत्रु पिता बैरी, येन बालो न पाठितः, न शोभते सभामध्ये, हंसमध्ये बको यथा।** वास्तव में भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा उपलब्ध हुआ करती थी; क्योंकि परिवार की सभी संतानों को शिक्षा देना माता-पिता अपना कर्तव्य मानते थे और समाज के सभी लोगों को शिक्षा देना समाज अपना कर्तव्य मानता था। जबकि यूरोपीय देशों में शिक्षा का विकास केवल 3-4 सौ वर्ष पुरानी घटना है। केवल तीन सौ वर्ष पहले तक यूरोप में सभी को शिक्षा उपलब्ध नहीं थी, उन्हें शिक्षा प्राप्त करने के लिए चर्च की सत्ता से काफ़ी संघर्ष करना पड़ा है, अतः उनके लिए यह एक अधिकार का विषय है। परंतु भारत के शिक्षाविदों को यूरोप की नकल करते समय भारत की विशाल शिक्षा परम्परा का ध्यान रखना चाहिए था, जो कि इस पूरे शिक्षा नीति के प्रलेख में अदृश्य है। शिक्षा अधिकार नहीं, वरन् कर्तव्य है। शिक्षा नीति के ऊपर वर्णित दृष्टिकोण में दूसरी समस्या यह है कि यह केवल प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य और मुक्त यानी निःशुल्क घोषित करती है। इस घोषणा से उच्च शिक्षा अत्यधिक महंगी हो जाती है। चूँकि इस शिक्षा-नीति में शिक्षा समाज का दायित्व या कर्तव्य नहीं है, इसलिए वह इसके लिए बाध्य भी नहीं है। इसलिए समाज के लिए शिक्षा व्यवसाय बन जाती है।

शिक्षा के सरकारीकरण से भी शिक्षा का व्यवसायीकरण बढ़ा है। चूँकि आज शिक्षा को एक अधिकार के रूप में देखा जाता है, इसलिए समाज लोगों को निःशुल्क शिक्षा देना नहीं चाहता। नागरिकों को समाज से लड़कर शिक्षा लेनी होती है, जिसमें राज्य उसकी सहायता करता है। इसलिए आज यह हो रहा है कि सरकार निःशुल्क शिक्षा देने की बात कर रही है। यानी निःशुल्क शिक्षा केवल सरकार ही दे सकती है, यह विचार समाज में दृढ़ किया जा रहा है। परंतु यह कोई भी ध्यान नहीं देता कि शिक्षा को

निःशुल्क बनाने के नाम पर सरकार लोगों पर भाँति-भाँति के कर लगाए जा रही है। करों का यह बोझ परोक्ष रूप से समाज के उस वर्ग पर भी पड़ता है, जिसे निःशुल्क शिक्षा देने की बात की जाती है। इस प्रकार केवल समाज ही नहीं, एक प्रकार से सरकार के लिए भी शिक्षा एक प्रकार का व्यवसाय ही बन गई है। एक बड़ा शिक्षा-तंत्र खड़ा किया गया है, जिसका पूरा व्यवसाय इस पर टिका है। आर्थिक गतिविधि होने के कारण इसमें व्यापक पैमाने पर भ्रष्टाचार फैला हुआ है। यदि यह एक आर्थिक गतिविधि नहीं होती, तो किसी विश्वविद्यालय के कुलपति बनने के लिए लाखों रुपये का उत्कोच आख़िर क्यों दिया और लिया जाता? थोड़ा-सा भी ध्यान देकर देखा जाए, तो इसे समझना कठिन नहीं होगा कि सरकारी शिक्षा भी प्रकारांतर से एक प्रकार का बड़ा व्यवसाय ही बनी हुई है। इस प्रकार अंततः सामान्य नागरिक दोनों ही ओर से मारे जा रहे हैं। उनकी जेब से पैसे भी जा रहे हैं और उन्हें उनकी आवश्यकता के अनुसार शिक्षा भी नहीं मिल पा रही है। यदि इसी शिक्षा को समाज के कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया जाता, जोकि अभी केवल दो-ढ़ाई सौ वर्ष पहले तक होता ही था, तो केवल प्रारंभिक ही नहीं, समस्त शिक्षा निःशुल्क हो जाती। भारत सरकार की शिक्षा नीति 2019 भी परोक्षतः शिक्षा के व्यवसायीकरण को ही स्थापित कर रही है, बस इसका केवल इतना कहना है कि शिक्षा का व्यवसाय समाज नहीं, केवल राज्य ही करेगा। दृष्टिपत्र की आगे की शब्दावलियाँ इसे और अधिक स्पष्ट करती हैं।

शिक्षा का व्यावसायीकरण करने की नीति

हालांकि इस दृष्टिपत्र में भारत की विरासत का उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि भारत में समग्र शिक्षा का एक लम्बा और शानदार इतिहास रहा है। प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्त करना नहीं था, जैसे इस दुनिया के जीवन या स्कूल के बाहर के जीवन के लिए तैयारी करना, बल्कि स्वयं का पूर्ण बोध और मुक्ति भी उद्देश्य था। परन्तु यह लिखने के बाद भी भारतीय शिक्षा-परम्परा का कोई चिह्न इस पूरे प्रलेख में कहीं दिखता नहीं है। शिक्षा नीति को भारतीय परम्परा से जोड़ने के बजाय वैश्विक विकास एजेण्डे से जोड़ दिया गया है। संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्य-4 एसडीजी-4 के साथ भारतीय शिक्षा का तालमेल बिठाने के प्रतिबद्धता प्रकट की गई है। संयुक्त राष्ट्र के इस प्रकार के लक्ष्यों का निर्माण कथित विकासशील देशों के हित में कम और विकसित देशों के हित में अधिक किया जाता है। साथ ही संयुक्त राष्ट्र के नीति-निर्माताओं को भारत-जैसे देशों की परम्पराओं और परिस्थितियों का सही ज्ञान भी नहीं होता। उनके भारतीय शाखाओं और प्रतिनिधियों द्वारा जो भी अध्ययन भारत में किए और करवाए जाते हैं, वे भारत को समझने के उद्देश्य से कम और यूरोपीय मापदण्डों पर भारत का अध्ययन करने के उद्देश्य से अधिक होते हैं। ऐसे में उनके द्वारा बनाई गई नीतियाँ सुनने में जितनी अधिक आकर्षक लगें, अन्ततः वे नुक़सानदेह ही साबित होती हैं। इसके बाद शिक्षा के दृष्टिकोण में 'नॉलेज़ इकॉनमी' और 'नॉलेज़ सोसायटी' की बात कही गई है। एक बार फिर यह शब्दावली यूरोप से आयातित है। एक ओर हम शिक्षा को व्यावसायीकरण से मुक्त रखने की बात करते हैं, और दूसरी ओर सरकार की नीति में ही 'नॉलेज़ इकॉनमी'-जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। 'नॉलेज़ इकॉनमी' का अर्थ शिक्षा के व्यावसायीकरण के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? 'नॉलेज़ इकॉनमी' की दो प्रचलित परिभाषाएँ यहाँ दी जा रही हैं। पहली परिभाषा 'ओईसीडी' यानी 'ऑर्गेनाइजेशन फ़ॉर इकोनॉमिक कोऑपरेशन एण्ड डेवलॅपमेण्ट' की है। इसके अनुसार नॉलेज़ इकॉनमी कंप्यूटर, इलेक्ट्रॉनिक्स, एयरोस्पेस आदि उच्च तकनीकी के उत्पादों का निर्माण, शिक्षा, स्वास्थ्य और सॉफ़्टवेयर-निर्माण आदि सेवाक्षेत्र और बीमा, सूचना एवं संचार यानी मीडिया जगत्– इन तीन का समूह है। पारम्परिक अर्थव्यवस्था में उत्पादन के प्रमुख अंग होते थे– ज़मीन, श्रम, पूँजी और व्यापारी। तकनीक को छोड़ दें, तो नॉलेज़ इकॉनमी

पारम्परिक अर्थव्यवस्था से किस प्रकार भिन्न है, समझना कठिन है। वास्तव में बौद्धिक छल को व्यापार का वैध स्वरूप देने एक प्रयास 'नॉलेज़ इकॉनमी' के आवरण में किया जाता है। 'नॉलेज़ इकॉनमी' की एक और परिभाषा एक आईटी उद्योगपति इंफोसिस के सह-संस्थापक नारायण मूर्ति कुछ इन शब्दों में देते हैं। वे लिखते हैं– 'सूचना और संचार-तकनीकी के क्षेत्र में तेजी से हुई प्रगति से पैदा हुए वैश्वीकरण ने नॉलेज़ इकॉनमी को जन्म दिया है। नॉलेज़ इकॉनमी एक ऐसी अर्थव्यवस्था है, जो वृद्धि और विकास के लिए ज्ञान का उत्पादन, वितरण और प्रयोग करती है।' हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत में ज्ञान के वितरण को कभी भी व्यावसायिक गतिविधि नहीं स्वीकार किया गया। पैसे लेकर ज्ञान देनेवाले ब्राह्मण को हमेशा हीन माना गया है। ज्ञान देना ब्राह्मणों का कर्तव्य माना गया था, न कि उनका व्यापार। ब्राह्मणों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर समाज का शूद्र और वैश्य वर्ग उत्पादन और व्यापार करता था, परन्तु इस ज्ञानदान को ब्राह्मणों ने कभी भी धन लेकर व्यापार और अर्थव्यवस्था का भाग नहीं बनाया। वास्तव में 'नॉलेज़ इकॉनमी' का शब्द-प्रयोग ही इस पूरी शिक्षा नीति के अभारतीय स्वरूप को उजागर कर देता है।

यूरोप का अंधानुकरण

हैरत की बात है कि तकनीकी विकास का शिक्षा पर इसमें इतना अधिक प्रभाव स्वीकार किया गया है कि मनुष्य इसमें गौण हो गया है। तकनीकियाँ अंततः मनुष्य के जीवन को सुखी बनाने के लिए ही तो हैं। यदि मनुष्यता का ही अंत हो रहा हो, तो इस तकनीकी और उसके अर्थशास्त्र से हमें क्या लाभ होने जा रहा है? यह शिक्षा नीति यूरोप की आसुरी तकनीकियों से संपन्न राक्षसी सभ्यता को भारत पर थोपने के लिए बनाई जा रही प्रतीत होती है। इस यूरोपीय सभ्यता को महात्मा गाँधी अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज' में 'राक्षसी सभ्यता' कह चुके हैं। इन्हीं महात्मा गाँधी की 150वीं जयन्ती यह सरकार मना रही है। इस पूरे प्रलेख में यूरोपीय शब्दावलियों का धड़ल्ले से प्रयोग किया गया है। ये यूरोपीय शब्द बहुत ही भ्रामक हैं और कुछ भी निश्चित अर्थ प्रदान नहीं करते। उदाहरण के लिए इसी दृष्टिपत्र में आगे 'लिबरल आर्ट्स एजुकेशन' की बात कही गई है। इसका हिंदी-अनुवाद तक इसके प्रलेखकों को नहीं मिल पाया। यह कहना कठिन है कि 'लिबरल आर्ट्स' से उनका अभिप्राय क्या है। 'विकिपीडिया' कहता है कि 'लिबरल आर्ट्स एजुकेशन पश्चिमी यानी यूरोपीय देशों के इतिहास में उच्च शिक्षा की सबसे प्राचीन व्यवस्था है।' इस दृष्टिपत्र के लेखक भी लिखते हैं– 'जिस लिबरल एजुकेशन को आज हम विभिन्न विषयों की सारणी के माध्यम से दिखाते हैं, जिसमें कला, मानविकी, गणित और विज्ञान शामिल हैं, दुनियाभर के कई उच्च अध्ययन के संस्थानों ने ठीक ढंग से एक विशेष क्षेत्र के गहन अध्ययन के साथ एकीकृत करके कार्यान्वित किया है। इस तरह के प्रयास, जो विज्ञान, तकनीक, इंजीनियरिंग और गणित के साथ मानविकी और कला को एकीकृत करते हैं, पर उपलब्ध आकलन इसके सीखने पर सकारात्मक प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं। बहुत स्पष्ट तौर पर, सीखने की सामान्य क्रिया और इसका आनन्द लेने के अलावा, यहाँ के परिणामों में अन्य बातों के साथ अधिक आलोचनात्मक चिन्तन, उच्चस्तरीय चिन्तन, गहन अधिगम, विषयवस्तु की दक्षता, समस्या -समाधान, टीम वर्क और संचार कौशल शामिल है। यद्यपि भारत में व्यवस्थित शोध-अध्ययनों के माध्यम से इस तरह के निर्णायक आकलन अभी तक उपलब्ध नहीं हैं, तथापि दूसरी जगहों पर उपलब्ध आकलन के निष्कर्ष स्नातक-स्तर पर लिबरल एजुकेशन शुरू करने के लिए पर्याप्त और ठोस हैं। इस पूरे विवरण में एक बार फिर बहुत ही लच्छेदार शब्दों में केवल यूरोपीय देशों के नकल करने की ही बात कही जा रही है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत में हमेशा से शिक्षा समन्वयकारी और बहुविषयी रही है। यहाँ कभी भी आज की भाँति एकांगी शिक्षा नहीं दी जाती रही है। आज की यह एकांगी शिक्षा यूरोपीयों, विशेषकर अंग्रेज़ों ने यहाँ थोपी। इस एकांगी अंग्रेज़ी शिक्षा नीति के कारण ही प्राचीन काल में अनेक वर्गों

को शिक्षा से वंचित रखने के मिथ्या आरोप लगाए जा रहे थे, जबकि उन्हें विभिन्न प्रकार की शिक्षा हमेशा दी जाती रही थी। क्या यह हमें बताना होगा कि गणित को हम कविता के माध्यम से सिखाया करते थे? विज्ञान-जैसे विषयों को हमने कहानी और कविताओं में सिखा दिया था। तकनीक और कला भारत में हमेशा से परस्पर अभिन्न अंग रहे हैं। भारत का चट्टान-विज्ञान मूर्तिकला से जुड़ा हुआ है, जबकि आज भी यूरोपीय चट्टान-विज्ञान किसी भी कला से सम्बन्धित नहीं है। वह एक शुष्क और अनुपयोगी विज्ञान है। इसलिए आज इस एकांगी शिक्षा को विफल होते देश यूरोपीयों ने तो 'लिबरल आर्ट्स एजुकेशन' के नाम से इसे ठीक करने की कवायद प्रारम्भ की है और अपनी अभिजात्यता के अहंकार में वे इसे अपने इतिहास से जोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। यह आचरण उनके लिए ठीक भी है। परन्तु भारतीय शिक्षाविदों का उनकी ऐसी अंधी नकल करना लज्जास्पद है। ऋषि दयानन्द, योगी अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा गाँधी-जैसे भारतीय शिक्षाविद् तो इस बात को इस अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रारम्भिक काल से ही कहते आए हैं। इसके लिए इस शिक्षा नीति में यूरोपीय शब्दावली का प्रयोग करना उनकी आत्महीनता को ही दर्शाता है। विचार करने की बात है कि ठीक दो चरण पहले भारत की शानदार शिक्षा-परम्परा और इतिहास का उल्लेख करने के बाद सारी-की-सारी शब्दावली यूरोपीय प्रयोग की जा रही है। इससे ही पता चलता है कि यह पूरी शिक्षा नीति यूरोपीय शिक्षा-नीतियों की नकल मात्र ही है, उससे अधिक कुछ नहीं। जिस शिक्षा-व्यवस्था के सर्वोच्च नीति-निर्माता ही नकल करते हों, उस शिक्षा-व्यवस्था में हम विद्यार्थियों से नकल नहीं करने की शुचिता का पालन करने की आशा कैसे कर सकते हैं।

चूँकि इस शिक्षा नीति में शिक्षा को एक अधिकार के रूप में स्वीकार किया गया है, इसलिए आगे शिक्षा-संस्थानों को अधिकाधिक स्वायत्तता देने की भी बात कही गई है। हालांकि भारतीय परम्परा भी शिक्षा को राज्य के नियन्त्रण से मुक्त रखने की ही बात करती है, परन्तु यहाँ स्वायत्तता का अर्थ राज्य के नियन्त्रण से मुक्त नहीं है। यहा राज्य के नियन्त्रण में रहते हुए सत्ता के विकेन्द्रीकरण करने की बात कही जा रही है। वास्तव में यह संकल्पना भी भारतीय नहीं है, यह यूरोपीय यूनिवर्सिटियों के इतिहास से जुड़ी है, जो कि वास्तव में शिक्षा से अधिक राज्य के सत्ता-केन्द्र हुआ करते थे। इसलिए यह स्वायत्तता शिक्षा के लिए कितनी लाभकारी रहेगी, यह चिन्तनीय विषय है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 2019 में सबसे पहले प्रारम्भिक बाल्यावस्था शिक्षा, जिसे अंग्रेज़ी में ECCE के बारे में निर्देश दिए गए हैं। जैसा कि हम पहले ही जान चुके हैं कि यह शिक्षा-नीति वस्तुतः राजकीय शिक्षा नीति है यानी इसमें शिक्षा के लिए राज्य द्वारा किए जानेवाले प्रयत्नों के लिए नीति का निर्देश दिया जा रहा है। यह विचारणीय बात है कि आख़िर 0-6 वर्ष के शिशुओं को राज्य शिक्षा कैसे देने की सोच रहा है। इसके लिए इस शिक्षा नीति में आँगनबाड़ियों के तंत्र को मज़बूत, सक्षम और संसाधनयुक्त बनाने की बात कही गई है। वास्तव में यही एक कम्युनिस्ट संकल्पना है जो बच्चों पर कम्यून का सीधा कब्ज़ा मानती है। इसलिए बच्चे की परवरिश वह परिवार पर न छोड़कर कम्यून के हवाले कर देती है। यहाँ हमें यह समझना होगा कि कम्यून समाज से भिन्न है। इसी कम्युनिस्ट संकल्पना के आधार पर राज्य बच्चों को आँगनबाड़ी में शिक्षा देने के लिए नीति बना रहा है। यह सही है कि निम्न वर्ग के परिवार इतने साधनसंपन्न नहीं होते कि वे अपने बच्चों को उचित शिक्षा प्रदान कर सकें। परन्तु क्या जो शिक्षा राज्य उन्हें उपलब्ध करवा रहा है, वह उनके लिए उचित होती है? यदि हम इसका गम्भीरता से अवलोकन करें, तो इसका उत्तर है– नहीं। ऐसा नहीं है कि निम्न वर्ग के साधनविहीन परिवारों के बच्चों के लिए भिन्न प्रकार की शिक्षा दी जा रही हो। आज का शासन उन्हें भी वही शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करता है जो वह शेष समाज को दे रहा होता है। परन्तु इससे उनकी समस्या घटती नहीं, बल्कि बढ़ जाती है। उनके बच्चे जो

थोड़ा समर्थ होते ही कमाना प्रारम्भ कर सकते थे, इस सरकारी शिक्षा को पाकर बेरोज़ग़ार बन जाते हैं। इस शिक्षा को लेने के चक्कर में वे अपना परम्परागत हुनर तो खो बैठते हैं, परन्तु इस शिक्षा से वे कुछ ऐसा नहीं सीख पाते जिससे वे अपनी आजीविका बिना सरकार से नौकरी मांगे चला सकें। इसलिए सरकार की यह प्रारम्भिक बाल्यावस्था शिक्षा यानी ECCE अपने उद्देश्य में पूरी तरह विफल है। इस शिक्षा नीति में भी इसकी कमियों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। इस नीति में केवल आँगनबाड़ियों को अधिक साधनसंपन्न बनानेभर की बात कही गई है।

भारत की पारम्परिक राष्ट्रीय शिक्षा नीति में शिक्षा का प्रारम्भ गर्भाधान से पूर्व ही हो जाता है। भारतीय शब्दावली में इसे 'संस्कार-व्यवस्था' कहते हैं। इस व्यवस्था में गर्भाधान से पूर्व ही माता-पिता की तैयारी से शिक्षा का प्रारम्भ हो जाता है। गर्भाधान और उसके बाद गर्भ के दौरान ही दो पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कार किए जाते हैं। गर्भावस्था के नौ मास चिकित्सा के माध्यम से भी गर्भस्थ शिशु का शिक्षण चलता रहता है। जन्म के बाद जातकर्म, निष्क्रमण, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ अथवा उपनयन– कुल मिलाकर 10 संस्कार बालक के शिक्षण के तरीक़े हैं, जो कि लंबे समय से देश की राष्ट्रीय शिक्षा नीति का हिस्सा रहे हैं। **मातृमानपितृमानआचार्यवान् पुरुषो वेद** के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा नीति में हमेशा से प्रथम शिक्षक माता, द्वितीय शिक्षक पिता और तत्पश्चात् आचार्य शिक्षक माने गए हैं। इसका सीधा अर्थ है कि आचार्यकुल या गुरुकुल जाने से पूर्व बच्चे की शिक्षा की पूरी ज़िम्मेदारी माता-पिता की है, किसी अन्य की नहीं। यह केवल एक व्यवस्थामात्र नहीं है। बाल मनोविज्ञान के अनुसार भी यह सर्वोत्तम व्यवस्था है।

उच्च शिक्षा में शोध के लिए इस नीति में अधिक ज़ोर दिए जाने की बात कही गई है। परंतु यहाँ भी यह डिग्रियों के जाल में उलझी हुई है। समझने की बात यह है कि शोध डिग्री से अधिक नवोन्मेषी विचार की मांग करते हैं। डिग्री के लिए शोध यानी पीएच.डी. की अनिवार्यता को समाप्त करने के बजाय इस नीति में उसे और मज़बूत ही किया गया है। यदि शोध को डिग्री से जोड़ा जाएगा और उस डिग्री को नौकरी की अर्हता के रूप में देखा जाएगा, तो स्वाभाविक ही है कि इससे शोध के बजाय डिग्री के लिए कवायद ही बढ़ेगी। इसे विश्वविद्यालयों तक सीमित करना ही ग़लत नीति है। शोध तो कोई भी व्यक्ति कर सकता है, जिसके पास कोई नवीन विचार हो। परन्तु इसे विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में केन्द्रित और सीमित करना वास्तविक शोध को और अधिक हतोत्साहित ही करेगा। राष्ट्रीय अनुसन्धान संस्थान का सुझाव तो आकर्षक है, परन्तु इसके माध्यम से केवल विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में शोध को वित्तपोषण तक सीमित करना बहुत ही ग़लत सुझाव है। इसके विविध प्रावधानों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि शैक्षिक भ्रष्टाचार के नये उपायों को इससे सृजित किया जा रहा है।

यहाँ पूरी शिक्षा नीति की समीक्षा करना सम्भव नहीं है, इसके लिए एक पृथक् पुस्तक लिखने की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिए संक्षेप में यहाँ पर इस शिक्षा-नीति के दृष्टिपत्र यानी विज़न की कुछेक मौलिक कमियाँ दिखाई गई हैं। मुख्य बात यह है कि राज्य की शिक्षा नीति इतनी लम्बी-चौड़ी होनी ही नहीं चाहिये। राज्य की शिक्षा नीति काफ़ी संक्षिप्त होनी चाहिए। शिक्षा के व्यावसायीकरण को रोकना राज्य का प्राथमिक कर्तव्य है। शिक्षण संस्थानों का वित्तपोषण और सुरक्षा उसका दूसरा कर्तव्य है। शिक्षा में वैविध्य को प्रोत्साहित करना उसका तीसरा कर्तव्य है। विद्वान् आचार्यों को अपने राज्य में संरक्षण देना उसका चौथा कर्तव्य है। इन्हीं कर्तव्यों के अनुसार उसकी नीतियाँ बनाई जानी चाहिए। अंग्रेज़ों की भाँति शिक्षा को अपने कब्ज़े में रखने की नीति का परित्याग बहुत ही आवश्यक है। अंग्रेज़, शिक्षा को अपने कब्ज़े में इसलिए रखना चाहते थे, क्योंकि उन्हें जनता द्वारा विद्रोह किये जाने का डर था, स्वाधीनता के बाद

स्वदेशी सरकारों को किस बात का डर है कि वह शिक्षा को अपने कब्ज़े में रखना चाहती है ?

सन्दर्भ :

1. ईशोपनिषद्, 12
2. राष्ट्रीय शिक्षा नीति, संदेश
3. दुर्भाग्यवश हिंदी-संस्करण में भी 'विज़न' शब्द ही लिखा है, 'दृष्टि' नहीं।
4. राष्ट्रीय शिक्षा नीति, पृ. 32
5. वही, पृ. 32
6. हितोपदेश
7. https://timesofindia.indiatimes.com/city/chennai/corruption-in-vc-appointments-raj-bhavan-clarifies-tn-governors-remark/articleshow/66133533.cms
8. राष्ट्रीय शिक्षा नीति, पृ. 33
9. वही, पृ. 36
10. https://www.economicshelp.org/blog/27373/concepts/the-knowledge-economy/
11. https://economictimes.indiatimes.com/view-point/india-a-strong-knowledge-economy/articleshow/2009289.cms
12. हिंद स्वराज
13. https://en.wikipedia.org/wiki/Liberal_arts_education
14. राष्ट्रीय शिक्षा नीति, पृष्ठ 39
15. रवि शंकर, भारत में यूरोपीय यात्री
16. शतपथब्राह्मण

❖❖❖

भारतीय दृष्टिकोणयुक्त शिक्षा-नीति : उद्देश्य, स्वरूप व व्यवस्था

प्रो. विजय कुमार कौल*

शिक्षा का उद्देश्य सांस्कृतिक व परम्परायुक्त जीवन-मूल्यों पर आधारित स्वरूप व चरित्रवान् व्यक्ति का निर्माण करना है, जिससे एक प्रगातिशील व वैभवशाली समाज व राष्ट्र की रचना की जा सके। आधुनिक जीवन-प्रणाली, आकांक्षा व क्षमता में बढ़ते अन्तर, कमज़ोर होती मानसिकता, हताशा की बढ़ती मनोवृत्ति व भावनात्मक सम्बन्धों में गिरावट और जीवन-यापन एवं रोज़गार की समस्या आदि से आज व्यक्ति व युवा पीड़ित है। धर्म-जाति की विविधता एवम् अन्य विषमताओं का उपयोग कर राजनीतिज्ञ, समाज को विघटन की ओर ले जाना चाहते हैं। देश में ग़रीबी, बेरोज़गारी व आर्थिक विषमताओं की समस्या भी कायम है। आज वैश्वीकरण व इंटरनेट के युग में, विश्व के विभिन्न देशों में आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक सहयोग बढ़ा है, आपसी प्रतिस्पर्धा बढ़ी है और टकराव भी बढ़ा है। कल तक प्राकृतिक सम्पदा व तेल के लिए राजनीतिक व आर्थिक प्रतिस्पर्धा व युद्ध, आज तकनीकी प्रतिस्पर्धा व युद्ध में बदल गए हैं। आज की चतुर्थ औद्योगिक क्रान्ति, जैसे— आर्टिफिसियल इंटेलीजेंसी, रोबोट, क्वांटम कंप्यूटिंग, बायोटेक व नैनोटेक आदि में प्रथम स्थान लेने के लिए व अपना राजनीतिक प्रभुत्व बढाने के लिए, व्यापार युद्ध चल रहा है। इस तकनीकी युग में ज्ञान-विज्ञान व अनुसन्धान का राष्ट्र के हित व सुरक्षा के लिए अधिक महत्त्व बढ़ गया है। भू-राजनीति में चीन की बढ़ती महत्त्वाकांक्षा, आर्थिक व सामाजिक शक्ति एक चिन्ता का विषय है। इन व्यक्तिगत, सामाजिक,राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति व नीति के निर्माण की आवश्यकता है। ऐसी शिक्षा-पद्धति, जिसमें व्यक्ति, समाज व राष्ट्र की क्षमता को बढ़ाया जा सके, जिससे वे अपनी आकांक्षाओं व उद्देश्य की पूर्ति कर सकें।

भारतवर्ष दस हज़ार वर्ष पुरानी संस्कृति और प्रचुर प्राकृतिक सम्पदा, मानवीय सम्पदा व भौगोलिक विशिष्टता एवं विभिन्नताभरा देश है। विगत छः शताब्दियों के संघर्ष, परतन्त्रता व विघटन का सामना करते हुए, 70 वर्ष पूर्व भारत स्वाधीन हुआ। आज भारत अपने पुरातन गौरव को प्राप्त करने व विश्वगुरु बनने के लिए कृत्संकल्पित है। देश में वर्तमान आर्थिक मंदी व बेरोज़गारी के बाद उच्च आकांक्षाओं युक्त युवाशक्ति के आधार पर, पाँच ट्रिलियन अर्थव्यवस्था, दस ट्रिलियन अर्थव्यवस्था के लक्ष्य की ओर बढ़नी चाहती है। यह उचित व समावेशी शिक्षा के बिना सम्भव नहीं है। हमें भारतीय

* लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में बिज़नेस एण्ड इकॉनमिक्स विभाग के डीन हैं।

दृष्टिकोणयुक्त शिक्षा-प्रणाली चाहिए, जो व्यक्ति में जिज्ञासा की मूल प्रवृत्ति को बढ़ाए, उसकी क्षमता व सामर्थ्य में वृद्धि करे, समग्रता व एकात्मता का भाव लेकर चले व समन्वय की प्रवृत्ति को बढ़ाये। इससे व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव है। साथ ही समाज व राष्ट्र भी इसके माध्यम से सामर्थ्यवान्, सुरक्षित व वैभवशाली बन पाएगा। भारतीय संस्कृति का मूल स्वभाव अध्यात्म व धर्म-आधारित रहा है। यहाँ की व्यक्तिगत, मानसिक व राजनीतिक व्यवस्था ज्ञान व विज्ञान की परम्परा, धर्म व अध्यात्म से प्रभावित है। साथ ही यहाँ भौतिक विकास को भी, कला व अन्य ज्ञान व कौशल की परम्परा को भी प्रोत्साहित किया गया है। जीवन-मूल्यों में पुरुषार्थ-चतुष्ट्य 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' में अर्थ व काम का महत्त्व कम नहीं आँका गया है।

पुरातन काल में शिक्षा का स्वरूप व व्यवस्था

भारतीय शिक्षा ज्ञान, परम्परा व जीवन-मूल्यों पर आधारित थी। जीवन में जन्म-मृत्यु एक शाश्वत सत्य है, जिसके आधार पर जीवन के दृष्टिकोण का निर्माण हुआ। शिक्षा में प्रारम्भ से ही मौलिकता व नैतिकता, आध्यात्मिकता व भौतिकता, शाश्वत व क्षणिक नाशवान् सोच-उद्देश्य के अन्तर पर ज़ोर दिया गया। जीवन-मृत्यु प्रक्रिया को समझते हुए, जीवन का उद्देश्य जीवन-मृत्यु चक्र से मुक्ति रखा गया। परम सत्ता, ब्रह्मसत्ता में अपने को आत्मसात कैसे करें, इस पर ज़ोर दिया। शिक्षा का उद्देश्य **चित्तवृत्तो निरोधः** रखा, ताकि व्यक्ति की क्षमता में वृद्धि की जा सके। इस उद्देश्य से मानव को समझने का प्रयास किया गया।

व्यक्ति एक सामाजिक जीव है। इसका एक शारीरिक व मानसिक पक्ष है। पुरातन काल में व्यक्ति को गहराई से समझने का प्रयास हुआ, जिसका वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् में है। व्यक्ति को समझने का प्रयास उसकी क्षमता व सामर्थ्य को बढ़ाने लिए, उसमें रूपान्तर करने के लिए किया गया। भारतीय ऋषियों व मनीषियों ने पाया कि मानव पञ्चकोष तत्त्वों का मिश्रण है। अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष व आनन्दमय कोष। यह मानव की विभिन्न परतें व स्तर हैं, जिसको समझकर हम स्वयं को, आत्मा को समझ सकते हैं।

आत्मजागरूकता, आत्मविश्लेषण, आत्मविश्वास एवम् आत्मनिरर्भता के गुणों के साथ-साथ जीवन-यापन, रोज़ग़ार व उपयोगिता के विकास में सहायक होना चाहिए। आज के वैश्वीकरण के युग में तकनीकी युग में, देश की आर्थिक सामाजिक, भौगौलिक व सामरिक उन्नति व सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय क्षमता को बढ़ाना भी शिक्षा का उद्देश्य है। ज्ञान-विज्ञान व अनुसन्धान की बढ़ोत्तरी व विकास के लिए सामूहिक हित व निःस्वार्थ भाव से राष्ट्रहित की भावना के विकास के लिए शिक्षा आवश्यक है।

भारत में स्वाधीनता के बाद शिक्षा के विकास व प्रसार के लिए कई प्रयत्न किए गए। भारत की आर्थिक स्थिति को देखते हुए आर्थिक नीति के क्रियान्वयन के लिए, शिक्षा के महत्त्व को समझते हुए, राष्ट्रीय शिक्षा का निर्माण किया गया।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति में, शिक्षा के उद्देश्य व समस्या पर चर्चा करते हुए, उसके क्रियान्वयन के साधनों व संसाधनों पर विचार किया जाता है। शिक्षा नीति के द्वारा शिक्षा के प्रसार व प्रचार में हुई प्रगति का विश्लेषण करना व राज्य की शक्ति व कर्त्तव्य का विवरण दिया जाता है। एक संतुलित व भारतीय दृष्टिकोणयुक्त शिक्षा-नीति में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए :

- व्यक्तिगत हित व समाजहित में समन्वय
- भौतिकता और आध्यत्मिकता का सम्मिश्रण
- विज्ञान व आध्यात्मिकता में संतुलन

- प्राचीन संकल्पना के साथ आधुनिकता का समन्वय
- सिद्धान्त और व्यवहार का संतुलन
- समाज की विविधता में एकता के महत्त्व की समझ
- समाज के द्वंद्वों व संघर्षों के समाधान के सतत प्रयास की क्षमता का विकास
- समाज की समस्याओं के निदान के लिए नेतृत्व का विकास।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, औपचारिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर निर्भर करती है। वास्तव में शिक्षा औपचारिक व अनौपचारिक– दोनों तरह की होती है। व्यक्ति के जन्म के साथ ही उसकी शिक्षा प्रारम्भ हो जाती है। व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी माँ व परिवारजनों से सीखता है, उसके बाद गुरुजनों से। शिक्षा जीवनपर्यन्त चलती है। आज की परिवर्तनशील व तकनीकी-प्रधान युग में, व्यक्ति को निरन्तर सीखते रहने की प्रवृत्ति बनानी होगी। आज इंटरनेट और यूट्यूब-जैसी संचार-प्रणाली से भी शिक्षा के विकास व प्रसार में सहायता मिल रही है।

शिक्षा का उद्देश्य व नीति

शिक्षा व व्यक्ति के लक्ष्य एक ही हैं। व्यक्ति में मौजूदा जिज्ञासा की मूल प्रवत्ति ने सीखने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। शिक्षा का मूल उद्देश्य इस जिज्ञासा को बढ़ाना व उसकी पूर्ति के लिए व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक क्षमता को बढ़ाना है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास से एक श्रेष्ठ समाज व राष्ट्र का निर्माण व पुनरुत्थान किया जा सकता है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। यह दर्शन, मनोविज्ञान व विचारधारा के सिद्धान्त पर आधारित है। शिक्षा द्वारा जीवन के सर्वांगीण विकास अथवा व्यक्ति में 'प्राकृतिक रूप' से विद्यमान अन्तर्निहित रचनात्मक क्षमता को मूर्त्तरूप देनेवाली शक्ति है। शिक्षा का उद्देश्य सहज गुण व सहज क्षमताओं को विकसित करना है। संक्षेप में शिक्षा का उद्देश्य है : 1. व्यक्ति के चरित्र व स्वस्थ शरीर का निर्माण व समग्र विकास, 2. सामाजिक व राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति और 3. राष्ट्रीय एवम् अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का समाधान।

भारतीय शिक्षा मूलतः आध्यात्मिक मूल्यों, यथा– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष– पर आधारित रही है। इसमें अर्थ व काम पर समान ध्यान दिया गया है। शिक्षा अर्थ व काम की पूर्ति में भी सहायक हो। आज व्यक्ति रोज़ग़ार, स्वरोज़ग़ार, उद्यमिता की अपेक्षा व आकांक्षा रखता है। शिक्षा जीवन-यापन में सहायक होनी चाहिए। समाज में समरसता व उन्नति के लिए शिक्षा को व्यक्ति की शिक्षा का आधार व लक्ष्य सिर्फ़ सूचना व ज्ञान देना नहीं है बल्कि आत्म विकास व परम सत्य को जानना है। इसमें पञ्चकोष को समझना, उनकी पुष्टि करना आवश्यक है। शरीर को (अन्नमय कोष) स्वस्थ व श्रमशील बनाना, प्राणों को व्यवस्थित कर (प्राणमय कोष), जीवन शक्ति का विकास करना, मन को (मनोमय कोष) नियन्त्रित कर शक्तिशाली व विनयशील बनाना। बुद्धि को (विज्ञानमय कोष) जागृत कर विवेकयुक्त ज्ञानसम्पन्न बनाना। यह सब मनुष्य के आनन्दमय कोष, यानि आनन्दपूर्ण स्थिति में ले जाने का सामर्थ्य रखता है।

रोगरहित, श्रमशील शरीर बौद्धिक व मानसिक प्रेरणाओं को अभिव्यक्त करने में सक्षम होता है। विनम्रतापूर्ण मन से मानव-मानव के बीच सम्बन्धों की मर्यादा का संरक्षण होता है। कर्मठता से आर्थिक समृद्धि का द्वार खुलता है। शिक्षा का उद्देश्य पुरातन काल से ही मानव शरीर मन व बुद्धि को स्वस्थ बनाकर उसे सुसभ्य, सुसंस्कृत तथा विकासोन्मुख बनाना है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए संतुलित आहार तथा श्रम के महत्त्व को समझना है। मन में कर्म के प्रति विश्वास और विनम्रता जगाना है। बुद्धि को विवेक से जोड़कर ज्ञानसम्पन्न बनाना है। यहाँ योग का महत्त्व **चित्तवृत्ति निरोधः** के रूप में

पारिभाषित करते हुए समझने की आवश्यकता है। वह गुण को नियंत्रित कर, ज्ञान प्राप्त करने का स्रोत बनता है। चेतना-शक्ति को जागृत कर ज्ञान का द्वार खोलता है। शिक्षा मुख्यतः व्यक्ति-केन्द्रित है। भारतवर्ष में संस्कारों द्वारा शिक्षा के विभिन्न स्तरों को पारिभाषित किया गया है। उपनयन-संस्कार से गुरु से नवजीवन प्रदान किया जाता है। गुरुकुल में रहकर, व्यक्ति जप-तप व श्रम द्वारा मन को प्रज्वलित करते हुए ज्ञान व कौशल की शिक्षा ग्रहण करते थे। छान्दोग्योपनिषद् में सत्यकाम व जाबाल की कथा में, गाय पालन व पोषण की कुशलता व ज्ञान को दर्शाया गया है कि किस तरह 400 गायों को 1,000 गायों में बढ़ाकर कुछ वर्षों में आश्रम वापिस आता है। गुरुकुल में श्रम की समझ व श्रम का सम्मान, समाज में व्यक्ति का स्थान, प्रकृति के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध आदि ज्ञान प्राप्त होता था।

विभिन्न व्यक्तियों में शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक क्षमतों में अन्तर होता है। गुरुकुल में इस विभिन्न क्षमताओं को देख व्यक्ति को शिक्षा प्रदान की जाती थी। गुरुकुल व्यक्ति की क्षमता व सामर्थ्य को बढ़ा उसे जीवन जीने व समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने योग्य बनाता था। शिक्षा को सामाजिक संस्कार का अंग बना समाज में उसकी सामाजिक संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। बाहुबल की अपेक्षा बुद्धिबल को प्रतिष्ठित किया गया। उस दौरान आचार्यों को विशेष सम्मान प्राप्त था। शिक्षा-पद्धति में श्रवण, मनन व निदिध्यासन पर ज़ोर दिया जाता था। नारद द्वारा आत्मज्ञानप्राप्ति के सम्बन्ध में चर्चा करते समय, उस समय में उपलब्ध ज्ञान के विभिन्न विषयों की चर्चा की गई है। पुरातन काल में ज्ञान के विषयों की शिक्षा इस प्रकार थी : चार वेद इतिहासपुराण, भूतविद्या, गणित, वेद, निधि, तर्कशास्त्र, राजनीति, देवविद्या, वेदण शिक्षा, कल्प, छन्द, पितृया, शस्त्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवज्ञान विद्या, नृत्य, गीत, वाद्य, शिल्प, आयुर्वेद आदि।

वर्तमान में शिक्षा का स्वरूप व व्यवस्था

सन् 1947 में स्वाधीन हुए भारत ने 6-7 शताब्दियों तक युद्ध, अराजकता, असन्तोष का सामना किया। अफ़गानों, पठानों व मुग़लों के अत्याचारों व धर्मांतरण के साथ-साथ नयी भाषा व पद्धति का प्रारम्भ हुआ। परन्तु पुरानी शिक्षा-व्यवस्था चलती रही। अंग्रेज़ों के आगमन व राज्य ने भारतीय संस्कृति व परम्परा को, शिक्षा-व्यवस्था को नष्ट किया। अपनी आवश्यकता को देखते हुए, अंग्रेज़ों ने नयी शिक्षा पद्धति प्रारम्भ की। भारत में साक्षरता का अनुपात 33% से घटकर 11% पर रह गया।

वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था मुख्यतः अंग्रेज़ों के समय पर स्थापित हुई। स्कूल, कॉलेज़ व विश्वविद्यालय के साथ-साथ, मेडिकल शिक्षा व अन्य प्रोफेशनल विषयों के लिए विशेष संस्थाओं की व्यवस्था की गयी। स्वाधीनता के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा की संस्थाओं की स्थापना की गई है।

सरकार ने सभी देशवासियों को साक्षर बनाने के लिए स्वाधीनता के बाद काफ़ी प्रयत्न किया। सभी को शिक्षा प्रदान करने के लिए कई योजनाएँ बनाई गयीं। आज शिक्षा हर स्तर, स्थानों, व राज्यों में पहुँची है। परन्तु शिक्षा में गुणवत्ता को देखते हुए सभी स्तरों पर सुझाव दिये जा रहे हैं, शिक्षकों की गुणवत्ता व उनकी शिक्षा-पद्धति पर भी प्रश्न उठाए जा रहे हैं।

भारत में शिक्षा-संस्थाएँ स्कूल, कॉलेज़, विश्वविद्यालय विभिन्न प्रकार के स्वामित्व व नियन्त्रण में कार्य करती हैं। सार्वजिनक नियन्त्रण शिक्षा संस्थाओं के साथ-साथ निजी क्षेत्र में उपस्थित धार्मिक संस्थानों, व्यावसायिक संस्थाओं व अन्यों के द्वारा शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए सराहनीय कार्य किया गया है।

वर्तमान में जीवन-यापन व बेरोज़ग़ारी की समस्या विकराल रूप ले रही है। ग़रीबी व सामाजिक असमानताओं की समस्या सभी विद्वानों का ध्यान आकर्षित करती है। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की मनोवृत्ति ने प्राकृतिक सम्पदाओं के अत्यधिक शोषण से जलवायु असंतुलन की समस्या उत्पन्न कर दी है। प्राकृतिक विपदाओं में बढ़ोत्तरी हो रही है। संचार के साधनों व तकनीकी विकास से व्यक्ति, समाज व विश्व में निकटता बढ़ी है, परन्तु साथ-ही-साथ अत्यधिक दुष्परिणाम भी सामने आ रहे हैं। समाज की व्यवस्था व समरसता को नष्ट करने का प्रयास भी हो रहा है। यह आज शिक्षा के लिए चुनौती है। तकनीकी के बढ़ते हुए प्रभाव व नयी विश्व शक्तियों के आगमन ने राष्ट्रीय सुरक्षा व व्यवस्था के लिए नयी चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं। चीन एक पार्टी राज्य व्यवस्था के साथ, तकनीकी व आर्थिक शक्ति के रूप में भू-राजनीति में उत्पन्न नयी चुनौती है। इसका राष्ट्रीय सुरक्षा पर प्रभाव पड़ता है। 130 करोड़ की जनसंख्यावाला भारत इस तकनीकी व भू-राजनीति में उत्पन्न नयी चुनौती की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसके सामने सिर्फ़ आर्थिक शक्ति व तकनीकी शक्ति बनकर ही किया जा सकता है। इन चुनौतियों को देखते हुए, शिक्षा नीति को बनाने की आवश्यकता है।

नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019 की आवश्यकता और स्वरूप

पुरातन काल में शिक्षा का स्वरूप व आवश्यकता का निर्धारण गुरुजनों द्वारा आश्रयों व विश्वविद्यालयों में व्यक्ति व समाज की आवश्यकता को देखकर किया जाता था। राज्य व राजा इन मन्दिरों, आश्रमों, विद्यालयों व विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। परन्तु अंग्रेज़ों के आने के बाद देशव्यापी शिक्षा-नीति का निर्माण किया गया, जिसका उद्देश्य अंग्रेज़ी सरकार की ज़रूरतों को देखते हुए शिक्षा-प्रणाली निर्मित करना व अंग्रेज़ी-भाषा का प्रचार-प्रसार करना था। मुग़लों ने भी फ़ारसी व अरबी-भाषा व मदरसों की स्थापना को बढावा दिया।

स्वाधीनता के पश्चात् कई कमेटियाँ बनाई गईं, जिन्होंने भारत में शिक्षा के प्रसार-प्रचार को बढ़ाने के लिए सुझाव दिए। इसमें कोठारी कमेटी (1981) व नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 एव 1996 महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान में कस्तूरीरंगन की अध्यक्षता में राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मसौदा 2019 प्रकाशित किया गया। इस पर लगभग एक लाख नये सुझाव नागरिकों व संस्थानों द्वारा दिये गए। हाल में नयी शिक्षा नीति घोषित एवं प्रकाशित हुई है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति विस्तृत व समावेशी है। नयी शिक्षा नीति का उद्देश्य भारतीय शिक्षा नीति में आमूलचूल परिवर्तन करना है। इसे आगामी दो दशकों को ध्यान में रखकर बनाया गया है। प्रारम्भ में भारतीय शिक्षा-तन्त्र का विजन (Vision) भारतीय परम्परा, पुरानी राष्ट्रीय शिक्षा नीतियों का आधार UN Sustalable development good 2030 आदि को ध्यान में रखकर एक लचीली समग्रता लिए हुए, शिक्षा-तन्त्र को रूपान्तरित करनेवाली, गुणवत्तापूर्ण अनुसन्धान को बढ़ानेवाली व राष्ट्रीय विकास में सहायता करनेवाली शिक्षा नीति बनाई गई है। शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण व्यक्ति का विकास है। यहाँ यूनेस्को, 1996 में इसके चार स्तम्भों की चर्चा की है। शिक्षा का आधार हैः- Learning To Know, Learning to do, Learning to live to gather. शिक्षा के इन आधारभूत उद्देश्यों को भारतीय उपनिषदों में वर्णित पञ्चकोष-आधारित शिक्षा का पूरक माना जा सकता है। इस शिक्षा में संज्ञानात्मक शिक्षा Cognitive Skill यानि की आधारभूत ज्ञान व कौशल जैसे कि भाषा व गणित के साथ-साथ Social Skill और Emotional Skill पर भी ज़ोर दिया गया है। पूरी रिपोर्ट को चार भागों में बाँटा गया है : स्कूल शिक्षा, उच्च शिक्षा, अन्य अतिरिक्त क्षेत्र व शिक्षा का रूपान्तर (Transformation)

स्कूल-शिक्षा को 3-18 वर्ष में बाँटा गया है। 3 वर्ष से 5 वर्ष तक बच्चों में संज्ञानात्मक क्षमता

Cognitive Skill लिए, इसके बाद तीन वर्ष (ग्रेड 3,4 व 5) बेसिक शिक्षा, इसके बाद तीन वर्ष (ग्रेड 6,7,8), माध्यमिक शिक्षा व अन्तिम चार वर्ष (ग्रेड 9,10,11,12), उच्चतर-माध्यमिक स्कूल के लिए यहाँ Cluster Board पद्धति, न्यूनतम मानदण्डों के साथ स्कूल शिक्षकों में अपनी गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए कार्य करना, आदि कई नये सुझाव दिए गए है। गरीब व वंचित बच्चों के लिए छात्रवृत्ति व विशेष शिक्षा की व्यवस्था की गयी। शिक्षकों के कार्य को मुख्य मानते हुए, उनके प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया है। शिक्षकों की शिक्षा को विश्वविद्यालयों के साथ जोड़ दिया गया है।

उच्च शिक्षा पर भी विशेष ध्यान देते हुए, पुनर्गठन की बात कही गई है। छात्रों की संख्या को 25%से 50% बढ़ाने की बात की गई है। कॉलेज़ व विश्वविद्यालय को तीन श्रेणियों में रखा गया है। इन उच्च शिक्षा-संस्थानों के नियन्त्रण, फंड व्यवस्था, मानक सेंटिग (Standard Setting) मान्यता (Accredition) आदि को अलग-अलग संस्थानों में बाँटने का निर्णय लिया है।

एक राष्ट्रीय शिक्षा आयोग बनाने का सुझाव भी दिया गया है। एक राष्ट्रीय अनुसन्धान फांउडेशन की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया है जो कि अनुसन्धान को हर स्तर पर प्रोत्साहित करेगी। इसके अलावा प्रोफेशनल शिक्षा के बारे में विशेष विचार व नेतृत्व को प्रभावी नेतृत्व का तैयार किया जाए।

इसके लिए अतिरिक्त शिक्षा में तकनीकी का उपयोग, व्यावसायिक शिक्षा, वयस्क-शिक्षा व शिक्षा का भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ाने की नीति आदि पर विचार किया गया है। शिक्षा रूपान्तर के लिए राष्ट्रीय शिक्षा आयोग के गठन की बात की गई है। इस शिक्षा-नीति के कार्यान्वयन के लिए वित्त की व्यवस्था व अन्य नीतियों के निर्धारण की चर्चा की गई है।

इस शिक्षा नीति के कार्यान्वयन के लिए सरकार को 6 प्रतिशत तक राष्ट्रीय आय (जी.डी.पी.) का खर्च करना पडेगा। इसके साथ पब्लिक व्यय (Public expenditure) को 10% से 20% करना चाहिए। इस शिक्षा नीति में भारतीय का विचार कई स्तर पर किया गया है। वैज्ञानिक विचार, गहन सोच (Critical thinking) व सम्बन्धित क्षमताओं की वृद्धि व संवैधानिक मूल्यों को बढ़ाने की बात कही गई है।

आज हर व्यक्ति को एक नागरिक, कर्मचारी, प्रबन्धक, माता-पिता, सामजिक कार्यकर्त्ता, उद्यमी आदि की भूमिका निभानी पड़ती है। इसके लिए उसे विभिन्न स्तरों का ज्ञान व कौशल की आवश्यकता होती है। आज की बदलती हुई अर्थव्यवस्था व समाज में भाषा व अक्षर ज्ञान के अलावा कई अन्य कौशल भी आवश्यक है जिन्हें 21वीं शताब्दी के ज्ञान व कौशल कहा जाता है, जैसे– समस्या का समाधान, गहन चिन्तन, कम्युनिकेशन, आपसी सहयोग व आत्मनियंत्रण व प्रबन्धन आदि। आज की शिक्षा-व्यवस्था में इन पर भी ज़ोर देना आवश्यक है।

❖❖❖

भारतीय शिक्षा की प्रतिष्ठापना

दिलीप केळकर

प्रस्तावना

भारत में अंग्रेज़ी-शिक्षा के दुष्परिणाम तो 19वी शती के पूर्वार्ध में ही दिखाई देने लग गये थे। बड़े-बड़े दिग्गजों ने स्वाधीनता से पूर्व शिक्षा को भारतीय बनाने के प्रयास शुरू किये थे। इसका प्रारम्भ सन् 1845 में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा सबसे पहला अंग्रेज़ी माध्यम का विद्यालय शुरू करने से हुआ था। 1848 में महाराष्ट्र में 'मराठी और गुजराती ज्ञान प्रसारक सभा' द्वारा कई विद्यालयों को प्रारम्भ किया गया। 1866 में योगी अरविन्द के नाना राजबहादुर बसु द्वारा 'राष्ट्रीयता संचारिणी सभा' की स्थापना हुई। 1875 में दयानन्द सरस्वती द्वारा गुरुकुल काँगड़ी, आगे स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा डीएवी स्कूल चलाए गये। 1880 में विष्णुशास्त्री चिपळूणकर द्वारा पूने में न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की गई। 1885 में लोकमान्य टिळक, भाण्डारकर, न्यायमूर्ति रानडे, प्रो. फर्ग्यूसन, प्रो. वेडबर्न आदि ने डेक्कन एजुकेशन सोसायटी और फर्ग्यूसन कॉलेज़ शुरू किये। 1893 में भगिनी निवेदिता ने कई 'राष्ट्रीय विद्यालयों' की स्थापना की। बिपिन चंद्र पाल, लाला लाजपत राय, योगी अरविन्द आदि ने शिक्षा को भारतीय बनाने के प्रयास किये। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्ति निकेतन, श्रीनिकेतन और विश्वभारती विश्वविद्यालय स्थापित किये। वाराणसी में महामना पं. मदनमोहन मालवीय ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय की नींव डाली। महात्मा गाँधी ने बुनियादी शिक्षा के विद्यालय और गुजरात यूनिवर्सिटी की शुरूआत की।

स्वाधीनता के उपरान्त भी ये सभी प्रयास चलते रहे। उनका विस्तार भी हुआ। अब शिक्षा को भारतीय बनाने के अन्य प्रयास भी बड़े परिमाण में चले। विद्या भारती आज देश के लगभग सभी प्रांतों में हज़ारों की संख्या में विद्यालय चलाती है। काञ्ची कामकोटि मठ, सत्य साईं प्रतिष्ठान, श्रीश्री रवीशंकर, माता अमृतानन्दमयी आदि अनेक साम्प्रदायिक संगठन हज़ारों की संख्या में विद्यालय चला रहे हैं। शासन भी इसमें पीछे नहीं है। हर सरकार शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन के प्रयास करती रही है। फिर स्वाधीनता से लेकर आजतक शिक्षा अधिकाधिक अभारतीय बनती क्यों दिखाई दे रही है ?

शिक्षा को भारतीय बनाने के प्रयासों की विफलता के कारण

1. लगभग ये सब प्रयास यूरोपीय ज्ञानधारा को मुख्य और भारतीय ज्ञानधारा को गौण मानकर चलते थे। आज भी ऐसे ही चलते हैं।
2. राष्ट्रीय शिक्षा का प्रयास करनेवाले लागभग सभी लोग अंग्रेज़ी-शिक्षा के विद्यार्थी रहे थे। अंग्रेज़ी

* प्रसिद्ध शिक्षाविद् तथा पुनरुत्थान विद्यापीठ, अहमदाबाद से सम्बद्ध हैं।

ज्ञान-विज्ञान को ये भारतीय ज्ञान विज्ञान पर वरीयता देते थे। इसलिये अंग्रेज़ी-ज्ञानधारा के साथ भारतीय ज्ञानधारा का समायोजन करने का इन का प्रयास रहा।

3. भारतीय शिक्षा का विचार शुरू हुआ तबतक 5-6 पीढियाँ अंग्रेज़ी-शिक्षा में रँग चुकी हैं। 1947 तक तो लगभग 9 पीढियाँ अंग्रेज़ी शिक्षा में रंग गई थीं।
4. मुसलमान, ईसाई बच्चों को उनके मजहब की शिक्षा देने की व्यवस्था तो संविधान ने की, लेकिन आज तक हिंदुओं के साथ ही सभी को भारतीय जीवन-दृष्टि और शिक्षा से वंचित रखा गया है।
5. स्वाधीनता के बाद तो शिक्षा शासन के अधीन ही रही। जाने-अनजाने में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी के प्रयासों का, जो काफ़ी मात्रा में भारतीय शिक्षा के प्रयास थे, उनका भी सरकारीकरण कर दिया गया।
6. शिक्षा को भारतीय बनाने का विचार अलग से नहीं हो सकता। लेकिन शिक्षा के साथ अनुरूप अनुकूल अन्य समाज व्यवस्थाएँ निर्माण करने के कोई समसामयिक प्रयास नहीं हुए।

व्यवस्था-परिवर्तन का महत्त्व

हम ऊपर देख आए हैं कि जब तक वर्तमान व्यवस्थाओं को भारतीय बनाने के समसामयिक प्रयास नहीं होते, तब तक केवल शिक्षा को भारतीय बनाने के प्रयास सफल नहीं होंगे। अंग्रेज़ों का भी यही अनुभव था। 'भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति का विकास' पुस्तिका में इसे डॉ. देवेन्द्र स्वरूप ने स्पष्ट किया है। पृष्ठ 7 पर वह बताते हैं– 'प्रारम्भ में उन्होंने (अंग्रेज़ों ने) भारत की राजस्व, न्याय, प्रशासन-प्रणाली से ही अपना काम चलाना चाहा और साथ में अपने साम्राज्यवाद के चिरस्थायित्व के लिये अंग्रेज़ी-शिक्षा का आरोपण करने की कोशिश भी की, किंतु ये कोशिशें बेकार गयीं। तब उन्होंने अनुभव किया कि शिक्षा-प्रणाली का किसी देश की राजस्व, न्याय, प्रशासन, अर्थव्यवस्था से गहरा सम्बन्ध होता है।' आगे पृष्ठ 8 पर वह कहते हैं– 'अंग्रेज़ों ने भारत की आर्थिक-प्रशासनिक व्यवस्था में जो मौलिक परिवर्तन किये थे, उनका स्वस्थ विकल्प खोजे बिना ही शिक्षा के जो प्रयोग आरम्भ किये गए, उनकी विफलता अवश्यम्भावी है।'

जीवन के पूरे प्रतिमान के परिवर्तन की आवश्यकता

वास्तव में डॉ. देवेन्द्र स्वरूप के उपर्युक्त कथन को और गहराई से समझने की आवश्यकता है। दीर्घ काल से चले आ रहे समाजजीवन का विचार समग्रता में ही करना होता है। समाज की विश्व-निर्माण की मान्यताएँ, इन मान्यताओं के आधार पर बनी उस समाज की जीवनदृष्टि, इस जीवनदृष्टि के अनुसार व्यवहार हो सके, इसलिये निर्माण की गई विविध व्यवस्थाएँ मिलकर समाज का जीवन अर्थात् समाज के जीवन का प्रतिमान, जीवन का एक नमूना बनता है। इस प्रतिमान का आधार जीवन-दृष्टि होता है। किसी समाजजीवन में भिन्न जीवन-दृष्टिवाले समाज की किसी व्यवस्था को स्थापित नहीं किया जा सकता। उस भिन्न समाज की जीवन-दृष्टि की अन्य व्यवस्थाएँ इस भिन्न व्यवस्था को स्थापित नहीं होने देतीं। समाज इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता। या तो दूसरे दूसरे समाज की जीवनदृष्टि के साथ साथ पूरे जीवन के प्रतिमान को समग्रता में स्वीकार करो या समग्रता में अस्वीकार करो– ये दो ही विकल्प होते हैं।

भारतीय जीवनदृष्टि का आधार चराचर में व्याप्त एकात्मता है, कुटुम्ब भावना है; जबकि अभारतीय समाजों की जीवनदृष्टि का आधार 'स्वार्थ' है, व्यक्तिवादिता है। भारतीय जीवन में धर्म सर्वोपरि होता है। वर्तमान जीवन के अभारतीय प्रतिमान में शासन (बलवान्) सर्वोपरि होता है। भारतीय समाज की सारी व्यवस्थाएँ कुटुम्ब-भावना पर और धर्म के आधार पर स्थापित होंगी। वर्तमान जीवन के

अभारतीय प्रतिमान में सारी व्यवस्थाएँ शासनाधिष्ठित हैं। धर्माचरण सिखानेवाली शिक्षा-व्यवस्था कभी भी स्वार्थभाव से भरे और शासनाधिष्ठित समाज-व्यवस्था में स्वीकार्य नहीं होगी। भारत में आयुर्वेद की शिक्षा दी जाती है। यह शिक्षा प्राप्त कर युवक वैद्य बनते हैं। लेकिन शायद ९९ प्रतिशत वैद्य एलोपैथी की प्रणाली से ही चिकित्सा करते हैं। यह इसलिये नहीं होता कि एलोपैथी से वे प्रेम करते हैं। लेकिन वर्तमान जीवन के प्रतिमान में जीने की मानसिकता बदलकर समाज की अन्य व्यवस्थाएँ आयुर्वेद को स्वीकार करने के लिये जब तक अनुकूल नहीं बनतीं, आयुर्वेद और वैद्य प्रतिष्ठित नहीं हो सकते।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि ध्यान में रखकर अब हम पहले भारतीय शिक्षा और भारतीय शिक्षा-व्यवस्था के स्वरूप को देखेंगे। फिर आगे परिवर्तन की प्रक्रिया का विचार करेंगे।

शिक्षा भारतीय होने से तात्पर्य

भारतीय दृष्टि : सर्वप्रथम 'राष्ट्र' की भारतीय परिभाषा को समझना होगा। समान जीवनदृष्टिवाले सुखी, समृद्ध, सुरक्षित सामाजिक सहजीवन को 'राष्ट्र' कहते हैं। हर राष्ट्र का अर्थात् राष्ट्र के समाज का जीने का अपना तरीक़ा होता है। यह तरीक़ा उस समाज की जगत् और जीवन की ओर देखने की दृष्टि के अनुसार आकार लेता है। यह दृष्टि उस समाज की सृष्टि-निर्माण की मान्यता के अनुसार बनती है। सृष्टि-निर्माण की मान्यता के अनुसार ही समाज के लोग अपने अर्थात् मानव जीवन का लक्ष्य भी तय करते हैं। इस लक्ष्य के अनुसार ही वह समाज अपने जीवन को अर्थात् व्यवहार और व्यवस्थाओं को ढालता है।

भारतीय या हिंदू समाज की मान्यता है कि परमात्मा ने अपने में से ही सृष्टि का सृजन किया है। इसलिये सृष्टि के सारे अस्तित्व परमात्मा के ही रूप हैं। अंत में सभी अस्तित्वों का परमात्मा में लय हो जाता है। सभी अस्तित्व एक परमात्म तत्त्व के रूप होने से इन सबमें एकात्मता है। सृष्टि चक्रियता से चलती है। परमात्मा में लय हो जाने से पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति मिल जाती है। इसलिये मुक्ति या मोक्ष ही मानव जीवन का लक्ष्य है।

एक अन्य पद्धति से भी देखें। सभी जीव सुखप्राप्ति के लिये जीते हैं। मनुष्य भी सुख के लिये ही जीता है। मनुष्य के सुख के अलग अलग स्तर होते हैं। शारीरिक या इन्द्रियों के सुख का स्तर सबसे नीचे का होता है। उससे ऊपर का स्तर मन के सुख का होता है। मन से श्रेष्ठ सुख बुद्धि का और बुद्धि से अधिक श्रेष्ठ सुख आत्मा का होता है। आत्मिक सुख सबसे श्रेष्ठ होता है। आत्मिक सुख की सीमा को भारतीय परम्परा में 'मोक्ष' कहते हैं। इसीलिये मोक्ष को ही मानव जीवन का लक्ष्य माना गया है। पर कई लोग इसे स्वीकार नहीं करते। लेकिन वे भी थोड़ा गहराई में जाकर विचार करेंगे, तो समझ जाएँगे कि मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष से अन्य कुछ हो नहीं सकता। गोवर्धन मठ, पुरी के पूर्व जगद्गुरु शंकराचार्य श्री भारतीकृष्ण तीर्थ लोगों से पाँच प्रश्न पूछते हैं। ये प्रश्न हैं– क्या मुझे अमर बनना है ? क्या मुझे सर्वज्ञानी बनना है ? क्या मुझे सदा सुखी बनना है ? क्या मुझे लगता है कि मेरे ऊपर किसी का नियन्त्रण न चले ? क्या मुझे लगता है कि मेरा नियन्त्रण सब पर चले ? इन सभी का उत्तर विश्व का हर मनुष्य 'हाँ' ऐसा ही देगा। ये पाँच बातें तो केवल परमात्मा के पास होती हैं। अर्थात् इन सब बातों की चाहत होने का ही अर्थ है परमात्म पदप्राप्ति की चाहत होना। इसलिये मोक्ष तो हर मनुष्य की चाहत है। इनसे अधिक चाहने के लिये कुछ रह नहीं जाता है। इसीलिये मानव जीवन का लक्ष्य है।

शिक्षा का लक्ष्य : जीवन का लक्ष्य यदि मोक्ष है, तो शिक्षा का लक्ष्य भी मोक्ष ही होना चाहिये। मुक्ति होना चाहिये। परमात्मपद प्राप्ति होना चाहिये। शिक्षा होती ही है जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये। जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ही शिक्षा और संस्कारों की आवश्यकता होती है। हमारे पूर्वजों ने इसे

जाना था और इसे प्राप्त करने के लिये शिक्षा और संस्कारों की प्रक्रिया का विकास किया था। इसलिये शिक्षा को भारतीय बनाने में सब से पहली बात यह है कि शिक्षा का लक्ष्य भी मोक्ष ही हो। मुक्ति ही हो। मोक्षप्राप्ति के लिये शिक्षा की प्रतिष्ठापना होनी चाहिये– ऐसा कहने में घबराने की आवश्यकता नहीं है। 'मोक्ष' यह कोई गूढ़ संकल्पना नहीं है। सामान्य हिंदू इसे सहजता से समझ सकता है। यह तो शिक्षाविद् और सामान्य जन, सब मानते हैं कि मानव का समग्र विकास ही शिक्षा का लक्ष्य होता है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय ने इसे बहुत सरल तरीक़े से बताया है। वह बताते हैं कि मानव का समग्र विकास ही मोक्ष है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा– ये मनुष्य के व्यक्तित्व के अंग हैं। इनका विकास 'सर्वांगीण विकास' कहलाता है। लेकिन यह पर्याप्त नहीं है। समाज के साथ एकात्मता की भावना और व्यवहार को 'समष्टिगत विकास' या 'समाजगत विकास' कहते हैं। सृष्टि के चराचर सभी अस्तित्वों के साथ एकात्मता की भावना और व्यवहार को 'सृष्टिगत विकास' कहते हैं। जब ऐसी भावना और व्यवहार होगा, तो परमात्मा जो चराचर सब में व्याप्त है उसमें और आप में कोई अंतर नहीं रहेगा। सृष्टिगत विकास के साथ परमेष्ठीगत विकास अपने आप हो जाता है।

विषयवस्तु : शिक्षा का लक्ष्य मोक्ष है, यह तय होने के बाद यह आवश्यक है कि विविध विषयों की विषयवस्तु ऐसी बने जो मनुष्य के समग्र विकास के लिये आवश्यक हो। इसीलिये हमारे पूर्वजों ने सभी विषयों की विषयवस्तु के निर्माण का लक्ष्य भी मोक्ष ही माना था। कुछ उदाहरणों से इसे हम समझने का प्रयास करेंगे। इतिहास की परिभाषा दी गई है– **धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्। पुरावृत्त कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥** चरकसंहिता के सूत्रस्थान में बताया है– **धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमं। रोगाः तस्य अपहर्तारः श्रेयसः जीवितस्य च॥** कला का लक्ष्य बताया गया है– **सा कला या विमुक्तये**। तात्पर्य यह है कि मोक्ष या मुक्ति पाने के की दृष्टि से इतिहास, आयुर्वेद, कला आदि का अध्ययन करना है। इसीलिये हर विषय की विषयवस्तु का निर्माण मोक्षप्राप्ति के लक्ष्य को सामने रखकर ही करना होगा।

शिक्षा पद्धति और व्यवस्थाएँ : जैसी विषयवस्तु वैसी अध्ययन-अध्यापन पद्धति और शिक्षा की व्यवस्थाएँ होती हैं। इस दृष्टि से गुरुकुल से श्रेष्ठ शिक्षा-व्यवस्था अन्य कोई नहीं है।

शिक्षक : भारतीय परम्परा में शिक्षक को 'मूर्तिमन्त शिक्षा' माना गया है। शिक्षा की स्वायत्तता का अर्थ है शिक्षा का शिक्षक के नियन्त्रण, निर्देशन और नियमन में होना। ऐसा होने के लिये शिक्षक भी वैसा होना आवश्यक है। अपने ज्ञान, कौशल, आत्मविश्वास, लोकसंग्रह और सामर्थ्य के आधार पर जब कोई श्रेष्ठ राष्ट्रीय समाज के निर्माण की ज़िम्मेदारी लेता है, अपने शिष्यों को सामर्थ्यशाली और मोक्षगामी बनाता है, तब वह शिक्षक या गुरु कहलाएगा।

भारतीय शिक्षा की अर्थात् भारतीय जीवन की प्रतिष्ठापना की प्रक्रिया

समग्र योजना : समयावधि 60 वर्ष की होगी जिसमें 12 वर्ष के पाँच चरण होंगे। तीन पीढ़ी का समय लगेगा। पूरे प्रतिमान के परिवर्तन की प्रक्रिया चलानी होगी। अध्ययन-अनुसंधान, लोकमत बनाना, कुटुम्ब सुदृढ़ीकरण, उपयुक्त मानव-निर्माण, व्यवस्था-परिवर्तन– ऐसी पाँच चरणों की यह चरणबद्ध योजना होगी। वर्तमान प्रतिमान की और परिवर्तन के उपरांत अपेक्षित भारतीय प्रतिमान की व्यवस्थाओं में अंतर समझ में आए, इसलिये नीचे संक्षेप में प्रमुख भारतीय व्यवस्थाओं के कुछ सूत्र दिये हैं :

शिक्षा-व्यवस्था : शिक्षकाधिष्ठित, निःशुल्क और प्रत्येक बालक की अन्यों से भिन्नता को

ध्यान में रखकर उसे धर्माचरण यानी इच्छाओं को और साधनों तथा प्रयासों को धर्म के दायरे में रखना सिखानेवाली और वैसे प्रत्यक्ष व्यवहार की आश्वस्ति देनेवाली मोक्षगामी बनानेवाली शिक्षा। धर्मसत्ता की प्रतिनिधि। शिक्षा का अर्थ ही पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की या धर्म की शिक्षा है। जो मोक्ष में विश्वास नहीं रखते, उनके लिये भी धर्मशिक्षा तो अनिवार्य ही है।

शासन-व्यवस्था : धर्मसत्ता के द्वारा प्रस्तुत धर्म की प्रतिष्ठापना करनेवाला, दुष्टों को अन्याय करने की हिम्मत ही नहीं हो ऐसा, जनता को पुत्रवत् माननेवाला, सज्जनों की और हर प्रकार के श्रेष्ठत्व की रक्षा करनेवाला शासन।

समृद्धि-व्यवस्था : किसी भी स्वतंत्र समाज का समृद्धि का सूत्र होता है– मैं नौकर नहीं बनूँगा और नौकर नहीं बनाऊँगा। इसलिये कुटुम्ब उद्योग आधारित समृद्धि-व्यवस्था का निर्माण करना। अर्थ का अभाव और प्रभाव– दोनों वर्जित होंगे। जो कमाएगा वह खिलाएगा और जो जन्मा है वह खाएगा। पारिवारिक भावना पर आधारित बाज़ार समेत समूची समृद्धि व्यवस्था।

न्याय-व्यवस्था : न्याय-व्यवस्था का काम सत्य की प्रतिष्ठापना करना है। किन्तु वर्तमान न्याय-व्यवस्था में सत्य की व्याख्या 'जो साक्षी और प्रमाणों से सामने आया है वह सही है' ऐसी विकृत हो गई है। इस के स्थान पर **यद्भूत हितं अत्यंत**– इस सत्य की व्याख्या पर आधारित, हर परिस्थिति में ऐसे 'सत्य' को समझनेवाले, धर्म यानी विश्व-व्यवस्था के नियम जाननेवाले न्यायाधीशों द्वारा संचालित न्याय-व्यवस्था।

धर्म-व्यवस्था : विश्व-व्यवस्था के नियमों को अर्थात् धर्म के शाश्वत तत्त्वों को समझकर उसके अनुसार स्वतः व्यवहार करनेवाली और अन्यों को व्यवहार के लिये युगानुकूल और देशानुकूल मार्गदर्शन करनेवाली धर्म-व्यवस्था। अपने श्रेष्ठ ज्ञान, चराचर के प्रति आत्मीयता की अनुभूति और व्यवहार, समाज के लिये समर्पण भावना, निःस्पृहता, निर्भयता, विवेक और तपस्या के आधार पर शासन को धर्माचरणी रखनेवाली धर्मसत्ता। जब धर्मसत्ता अपने तप से शासन को धर्माचरण करने और धर्म की प्रतिष्ठापना करने के लिये वातावरण बनाती है, तब ही धर्म भी बचता है और शासन भी श्रेष्ठ रहता है। भारतीय इतिहास बताता है कि धर्मसत्ता का राजसत्ता को अधर्माचरणी बनने देना– यही भारतीय समाज के पतन का मुख्य कारण रहा है।

समाज-व्यवस्था : निर्दोष वर्णाश्रम-व्यवस्था की या उससे भी अधिक श्रेष्ठ वैकल्पिक व्यवस्था की, जिसमें मूल वर्णाश्रम प्रणालियों के लाभ तो मिलने ही चाहिये, साथ ही में वह व्यवस्था व्यवहार में लाने योग्य भी होनी चाहिये, ऐसी व्यवस्था की प्रतिष्ठापना और सबलीकरण।

धर्म व्यवस्था के नेतृत्व (प्रतिनिधि के रूप में शिक्षा-व्यवस्था) में यह पूरी परिवर्तन की प्रक्रिया/योजना चलेगी। अपेक्षित व्यवस्था-परिवर्तन के लिये एक भारतव्यापी मुक्त संगठन निर्माण करना होगा। आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य ने संन्यासियों का ऐसा ही संगठन खडा किया था। स्वामी समर्थ रामदास ने भी देशभर में भ्रमणकर एक मुक्त संगठन निर्माण किया था। वर्तमान काल में आवश्यक मुक्त संगठन धर्माचार्यों और शिक्षा को भारतीय बनाने में जुटे लोगों को एकत्रित आकर बनाना होगा। शासन के भी अनुकूल घटकों को इसमें साथ में लेना होगा।

शिक्षा, शासन, अर्थ, न्याय और धर्म– इन सभी प्रमुख क्षेत्रों के लिये मुख्यतः और सभी क्षेत्रों में सामान्यतः श्रेष्ठ और उपयुक्त मानव-निर्माण के लिये विराट् का जागरण करना। उपर्युक्त 5 चरणों के अनुसार प्रत्येक क्षेत्र में योग्य, समर्थ मानव निर्माण कर उनके माध्यम से व्यवस्था-परिवर्तन के प्रयोग

करना।

– परिवर्तन की प्रक्रिया में न्यूनतम या कोई हानि न हो, इसके लिए सावधानी रखना। जब अंग्रेज़ों ने यहाँ की व्यवस्थाएँ तोड़कर अपनी व्यवस्थाएँ यहाँ स्थापित कीं, तब भारतीय समाज की अपार हानि हुई थी। टाइम्स ऑफ़ इण्डिया दैनिक के एक अंक की मुख्य ख़बर थी : 'ग्रॅज्युएट्स् डाय यंग'। यानी अंग्रेज़ी शिक्षाप्राप्त स्नातक जवानी में मर रहे हैं। अभारतीय शिक्षा और जीवन के भारतीय प्रतिमान में विपरीतता होने के कारण यह हो रहा था। अंग्रेज़ों को ऐसे मरनेवालों की कोई चिवता नहीं थी। लेकिन हमें यह देखना होगा कि कोई भी स्नातक प्रतिमान के परिवर्तन की प्रक्रिया के कारण निर्माण हुए तनाव के कारण अकाल मृत्यु को प्राप्त न हो।
– बगैर किसी विरोध के आज जो परिवर्तन कर सकते हैं, करते जाना।
– अगले चरण के लिये परिस्थितियों में सुधार करते जाना।
– सभी व्यवस्थाओं का तालमेल रखना और उन्हें मार्गदर्शन करना अनिवार्य है। यह काम धम-व्यवस्था के नेतृत्व में, धर्म-व्यवस्था की प्रतिनिधि के रूप में शिक्षा-व्यवस्था करेगी।
– इसी क्रम में आगे बढ़ते जाना। पहले दो चरण सभी व्यवस्थाओं के लिये समान होंगे।
– उपर्युक्त पाँच चरण एक के बाद एक चलेंगे और साथ ही में साथ-साथ भी चलेंगे।
– प्रयोग, परीक्षण, सुधार और फिर प्रयोग– इस प्रक्रिया-क्रम से आगे बढ़ते जाना।

परिवर्तन के चरण

क्र.	चरण का नाम	शिक्षा	शासन	समृद्धि	न्याय	धर्म
१	अध्ययन-अनुसंधान	✓	✓	✓	✓	✓
२.	लोकमत परिष्कार	✓	✓	✓	✓	✓
३.	कुटुम्ब सुदृढीकरण	श्रेष्ठ शिक्षक निर्माण	श्रेष्ठ शासक निर्माण	श्रेष्ठ उद्यमी निर्माण	श्रेष्ठ न्यायविद निर्माण	धर्माचार्य निर्माण
४.	आचार्य (मार्गदर्शक)	शिक्षक निर्माण और प्रयोग	शासक निर्माण और प्रयोग	उद्यमी निर्माण और प्रयोग	न्यायविद निर्माण और प्रयोग	धर्माचार्य निर्माण और प्रयोग
५.	फलश्रुति	विद्याकेन्द्र	राज्य	उद्योग	न्यायालय	धर्मव्यवस्था

परिवर्तन की आश्वस्ति

दस पीढ़ियों से चली आ रही अभारतीय शिक्षा और अभारतीय जीवन के प्रतिमान के कारण अनेक विद्वानों को लगेगा कि ऐसा परिवर्तन अब असम्भव है। किंतु पहले तो हमें यह ध्यान में रखना होगा कि ऐसे परिवर्तन भारत में होते रहे हैं। और दूसरे यह कि लाखों वर्षों से चले आ रहे प्रतिमान को यदि अंग्रेज़ दो शताब्दियों में बदल सकते हैं, तो केवल इतने अर्वाचीन इस अभारतीय प्रतिमान को बदलना न तो असम्भव है और न ही इसके लिये 60 वर्ष से अधिक काल की आवश्यकता है। लेकिन इसे सम्भव बनाने के लिये भारत राष्ट्र की चेतना यानी चिति और प्राणशक्ति यानी विराट् का जागरण करना होगा। प्रारम्भ हमें अपने क्षेत्र के भारतीय स्वरूप को समझकर अपने व्यवहार में क्रमशः लेकिन यथाशीघ्र परिवर्तन से करना होगा।

❖❖❖

प्राचीन भारत में शिक्षा की संकल्पना एवं पाठ्यचर्या का स्वरूप

डॉ. प्रवीण कुमार तिवारी*

हम अक्सर 'शिक्षा', 'ज्ञान', 'विद्या', 'विवेक', 'प्रज्ञा', 'बुद्धि', 'अनुभव', आदि शब्दों को सुनते हैं तथा प्रयोग करते हैं। कभी-कभी हम इन शब्दों को एक ही अर्थ में तो कभी-कभी भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयोग करते हैं। हमारे द्वारा इन शब्दों के अर्थ कभी छिछले तो कभी गहरे, कभी सीमित दायरे में तो कभी विस्तृत व व्यापक दायरे में लिए जाते हैं। सभी प्रकार के लिए गए अर्थों का तर्काधार है, परन्तु यह स्थिति हमें अधिक भ्रम में डाल देती है। आख़िर हम किन अर्थों की ओर अपनी विशेष मान्यता प्रदर्शित करें? इस प्रश्न के उत्तर की खोज, हमें इन शब्दों के भाषिक संस्कार व उनकी व्युत्पत्ति की ओर ले जाती है। 'विद्या', 'शिक्षा' तथा 'ज्ञान'– इन तीन शब्दों की व्युत्पत्ति की चर्चा से पूरे सन्दर्भ को समझना कुछ सरल हो सकता है। पाणिनि अष्टाध्यायी के धातुपाठ में शिक्षा-सम्बन्धी तीन महत्त्वपूर्ण धातुओं को उद्धृत किया गया है। प्रथम धातु 'शिक्ष्' के सन्दर्भ में **शिक्ष् विद्योपादाने** (भवादिगण, धातु-संख्या 605)[1] उद्धृत है; यह धातु, विद्या के आदान-प्रदान करने सम्बन्धी प्रक्रिया तथा क्रियाबोधक पद के निर्माण हेतु प्रयुक्त होता है। इस प्रकार 'शिक्षा' शब्द का अर्थ हुआ– वैसी प्रक्रिया जिसके माध्यम से किसी विद्या का आदान-प्रदान होता है। अब प्रश्न उठता है कि 'विद्या' क्या है ? इससे सम्बधित धातु 'विद्' के सन्दर्भ में 'विद् ज्ञाने' (अदादिगण, धातु-संख्या 1064)[2] उद्धृत है; यह धातु, ज्ञान प्रदान करनेवाले विषयवस्तु व तत्सम्बन्धी क्रियाबोधक पद के निर्माण हेतु प्रयुक्त होता है। अतः 'विद्या' का अर्थ ऐसा विषयवस्तु हुआ जिससे या जिसका ज्ञान होता है तथा जो शिक्षा के माध्यम से दी जाती है। अब यह पूरी चर्चा ज्ञान पर आकर टिकती है; क्योंकि 'विद्या' विषयवस्तु के अर्थ का द्योतक है, 'शिक्षा' उस विषयवस्तु के आदान-प्रदान की प्रक्रिया है, परन्तु 'विद्या' तथा 'शिक्षा' का लक्ष्य, उसका परिणाम ही वास्तव में 'ज्ञान' है; अर्थात 'विद्या' तथा 'शिक्षा' साधन हैं और 'ज्ञान' साध्य है। अब हम इस शब्द 'ज्ञान' के विषय में देखें, तो इससे सम्बन्धित धातु 'ज्ञा' के सन्दर्भ में **ज्ञा अवबोधने** (क्रयादिगण, धातु-संख्या 1508)[3] उद्धृत है; यह धातु अवबोध के अर्थ में संज्ञार्थक पद व अवबोध-सम्बन्धी क्रिया-पद के निर्माण हेतु प्रयुक्त होती है। अतः 'ज्ञान' का अर्थ हुआ वह अवबोध व अनुभूति, जो किसी विद्या की शिक्षा के उपरान्त हमारे पास शेष बचती है। अर्थात् ज्ञान परिणाम है, साध्य है, लक्ष्य है व सामर्थ्य है।

* सहायक प्रोफेसर, शिक्षा एवं सहबद्ध विज्ञान संकाय, महात्मा ज्योतिबा फुळे, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली, उत्तरप्रदेश, 243006

उपर्युक्त चर्चा से एक बात तो स्पष्ट हुई कि किसी विद्या के ज्ञान हेतु अपनाई जानेवाली प्रक्रिया ही वस्तुतः 'शिक्षा' है। परन्तु क्या यह शिक्षा की प्रक्रिया निरपेक्ष है? या फिर इसकी सीमा को तय करने का कार्य परिणाम के रूप में किसी विशेष प्रकार के ज्ञान हेतु विकसित विद्या (विषयवस्तु) करती है? निश्चय ही आपका उत्तर होगा कि शिक्षा निरपेक्ष नहीं है अर्थात् शिक्षा की चर्चा सन्दर्भ के साथ ही होनी चाहिए। अतः स्वाभाविक रूप से शिक्षा की चर्चा करते हुए ये प्रश्न सामने आते हैं कि : 'शिक्षा क्यों दी जाय?', 'किस प्रकार के बदलावों के लिए शिक्षा दी जाय?' 'किस विषयवस्तु की शिक्षा दी जाय?', 'किसे शिक्षा दी जाय?', 'शिक्षा कब दी जाय?', 'किस तरीक़े से तथा किन साधनों की सहायता से शिक्षा दी जाय?', 'शिक्षा के द्वारा हम क्या चाहते हैं?' इन्हीं प्रश्नों के सन्दर्भ में शिक्षा के उद्देश्य, प्रकृति, मूल्य तथा पाठ्यचर्या आदि निर्मित होते हैं। शिक्षा के इस क्यों, क्या, किसे, कैसे आदि प्रश्नों का उत्तर देश, काल व परिस्थिति के अनुरूप निर्धारित होता है। प्रत्येक युग, क्षेत्र व समुदाय ने भिन्न-भिन्न ढंग से इन प्रश्नों पर विचार किया, उत्तर दिया व तदनुरूप व्यवहार किया। विभिन्न दार्शनिक चिन्तनधाराओं ने इसके भिन्न-भिन्न उत्तर तलाशे। हमारी परम्परा में इसके सन्दर्भ में गम्भीर विचार किया गया। यहाँ उनमें से कुछ सन्दर्भों को शिक्षा की संकल्पना एवं पाठ्यचर्या के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जा रहा है–

इस सन्दर्भ में निम्नलिखित उक्तियों को देखा जा सकता है :

अनन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ ...
विद्याम् चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥[4]

(जो केवल अविद्या की उपासना करते हैं, वे गहरे अंधकार में गिरते हैं, परन्तु जो केवल विद्या में ही रत रहते हैं वे उससे भी गहरे अंधकार में गिरते हैं ... जो विद्या तथा अविद्या– दोनों को एक साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को पार करता है अर्थात् जीवन पूर्ण करता है तथा विद्या से अमृत को प्राप्त करता है अर्थात मोक्ष को प्राप्त करता है)

तत्कर्म यन्न बनाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यऽन्या शिल्पनैपुणम्॥[5]

(कर्म वह है जो बनन के लिए न हो, विद्या वह है जो मुक्ति प्रदान करे; शेष कर्म केवल अनायास है तथा शेष विद्या कौशल व शिल्प मात्र है)

विद्या ददाति विनयम विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति ।नाद्धर्मः ततः सुखम्॥[6]

(विद्या विनय प्रदान करती है, विनय से पात्रता प्राप्त होती है, पात्रता से धन, धन से धर्म तथा धर्म से सुख की प्राप्ति होती है)

उपर्युक्त उक्तियों में पहली उक्ति उत्तर वैदिक काल की है जो शेष से प्राचीन है। यह उक्ति सीधे तौर पर मृत्युपर्यंत जीवन जीने के लिए अविद्या (सांसारिक ज्ञान-विज्ञान) को अत्यन्त आवश्यक बताती है तथा उसके बिना विद्या (पारलौकिक ज्ञान) को अधूरा व अपर्याप्त घोषित करती है। इससे यह आशय निकलता है कि शिक्षा का उद्देश्य अविद्या व विद्या– दोनों को प्रदान करना है जिससे जीवन भी बेहतर हो और जीवन के बाद अमृत तत्त्व अर्थात मोक्ष भी प्राप्त हो। यह उक्ति सांसारिक व पारलौकिक– दोनों ज्ञान को बराबर का महत्त्व प्रदान करती है। दूसरी उक्ति पुराणों के रचनाकाल की है जो सांसारिक ज्ञान सम्बन्धी विद्या को शिल्पनिपुणता की संज्ञा प्रदान करती है परन्तु उसे महत्त्वहीन मानती है और शिक्षा का लक्ष्य

मुक्ति प्रदान करना बताती है। तीसरी उक्ति लौकिक साहित्य की है जिसमें शिक्षा का लक्ष्य विनयशीलता, पात्रता, धन, धर्म व इन सभी के माध्यम से सुख की प्राप्ति बताया गया है। इस उक्ति के केंद्र में मानवीय व्यवहार का शोधन व समाज के अनुरूप समुचित व्यवहार के माध्यम से सुख की प्राप्ति है। इस उक्ति में सीधे तौर पर मुक्ति की चर्चा नहीं की गई है। उपर्युक्त तीनों उक्तियों को एकसाथ देखें तो हितोपदेश जहाँ समाज को केंद्र में रखकर सुखप्राप्ति को लक्ष्य बताता है तथा विष्णुपुराण मुक्ति को लक्ष्य बताता है, वही ईशावास्योपनिषद् इन दोनों उद्देश्यों का समन्वय करता है। चूँकि उपनिषद् 'प्रस्थानत्रयी' के अंग के रूप में भारतीय परम्परा में अति महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है अतः इसकी उक्ति को प्राचीन भारतीय समाज द्वारा स्वीकार्य शिक्षा के उद्देश्य के रूप में माना जा सकता है।

उपर्युक्त चर्चा के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में शिक्षा के अन्तर्गत विद्या (अध्यात्मविद्या) तथा अविद्या (शिल्पनिपुणता या सांसारिक ज्ञान)– दोनों को समान रूप से दिए जाने की परम्परा रही है। इस विद्या तथा अविद्या को इसके स्वरुप के माध्यम से समझा जा सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के 'विभूतियोग' नामक दशम अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या हूँ–**अध्यात्मविद्या विद्यानाम्।**[7] अर्थात् विद्याओं में श्रेष्ठ अध्यात्मविद्या है। यह अध्यात्मविद्या अत्यन्त गूढ़ तथा गुप्त है तथा परम्परा में गुरुमुखी विद्या के रूप में है। वेद तथा इसके अन्य अंगों में उद्धृत अनेक दृष्टान्तों में बार-बार यह चर्चा हुई है कि 'तब ...... ने ....को ब्रह्मविद्या या अध्यात्मविद्या का उपदेश दिया' परन्तु वह विद्या है क्या? यह प्राप्त नहीं हो पाता। यम ने नचिकेता को ब्रह्मविद्या के रूप में क्या प्रदान किया, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। यह व्याकरण के सन्दर्भ में प्रसिद्ध उक्ति **अजा भक्षितम्** के ही सदृश्य है। इस प्रकार यह गूढ़ विद्या गोपनीय तथा गुरुमुखी है। परन्तु इस विद्या के लिए व्यक्ति का मानस तैयार हो सके व इस अध्यात्मविद्या के लिए पूर्वपीठिका बन सके, इसके लिए परम्परा में अध्यात्मविद्या की सहायक विद्याओं की व्यापक चर्चा की गयी है। इनकी संख्या को लेकर भिन्न-भिन्न मत हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति में उद्धृत है–

पुराणन्यायमीमांसार्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाःस्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥[8]

(पुराण-साहित्य, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, 6 वेदांग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष तथा व्याकरण) तथा 4 वेद– इस प्रकार कुल 14 विद्याओं के स्थान हैं)

एक अन्य उद्धरण मिलता है–

उपवेदसहिता ह्येता विद्या ह्यष्टादशस्मृताः

(आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा शिल्पवेद के रूप में 4 उपवेदों सहित 18 प्रकार की विद्याएँ हैं)

शुक्राचार्य ने विद्याओं की संख्या 32 बताई है; अन्य आचार्यों ने भी भिन्न-भिन्न संख्या बतायी है। परन्तु परम्परा में **अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्याः** प्रचलित है अर्थात् अनन्त शास्त्र हैं तथा अनेकानेक विद्याएँ हैं और ये सभी विद्याएँ अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या के लिए पूर्वपीठिका तैयार करते हैं।

आइए, अब अविद्या या शिल्पनिपुणता या सांसारिक ज्ञान, जिसे ईशावास्योपनिषद् इस जीवन को पार करने के लिए अत्यन्त आवश्यक मानता है, के स्वरूप को भी समझने का प्रयास करते हैं। इसे परम्परा में कलाओं के रूप में वर्णित किया गया है। कलाओं के सन्दर्भ में शास्त्रीय परम्परा के अनेक ग्रंथों

में चर्चा की गई है। शुक्राचार्य ने कहा है कि कलाएँ अनन्त हैं, उन सभी के नाम भी नहीं गिनाए जा सकते, परन्तु उनमें 64 कलाएँ मुख्य हैं। कला के सन्दर्भ में शुक्र कहते हैं कि–

शक्तो मूकोपि यत् कर्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतं।[9]

(अर्थात् जिसे एक मूक व्यक्ति भी कर सके, वह कला है)

इन चौंसठ कलाओं के नाम भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप में दिया है। केलादि नरेश श्रीबसवराजेन्द्रविरचित शिवतत्त्वरत्नाकर में निम्नलिखित 64 कलाओं की चर्चा की गयी है[10]– 1. इतिहास, 2. आगम, 3. काव्य, 4. अलंकार, 5. नाटक, 6. गायकत्व, 7. कवित्व, 8. कामशास्त्र, 9. दुरोदर (द्यूत), 10. देशभाषा लिपि ज्ञान, 11. लिपि-कर्म, 12. वाचन, 13. गणक, 14. व्यवहार, 15. स्वरशास्त्र, 16. शाकुन, 17. सामुद्रिक, 18. रत्नशास्त्र, 19. गज-अश्व-रथ कौशल, 20. मल्लशास्त्र, 21. सूपकर्म, 22. भूरूहदोहद (बागवानी), 23. गनवाद, 24. धातुवाद, 25. रस-सम्बन्धी खनिवाद, 26. बिलवाद, 27. अग्निसंस्तम्भ, 28. जलसंस्तम्भ, 29. वाचःस्तम्भन, 30. वयःस्तम्भन, 31. वशीकरण, 32. आकर्षण, 33. मोहन, 34. विद्वेषण, 35. उच्चाटन, 36. मारण, 37. कालवंचन, 38. परकायाप्रवेश, 39. पादुकासिद्धि, 40. वाक्सिद्धि, 41. गुटिकासिद्धि, 42. ऐन्द्रजालिक, 43. अञ्जन, 44. परदृष्टिवंचन, 45. स्वरवंचन, 46. मणिमन्त्र-औषाादिकी सिद्धि, 47. चौर्यकर्म, 48. चित्रक्रिया, 49. लौहक्रिया, 50. अश्मक्रिया, 51. मृत्क्रिया, 52. दारुक्रिया, 53. वेणुक्रिया, 54. चर्मक्रिया, 55. अम्बरक्रिया, 56. अदृश्यकरण, 57. दंतिकरण, 58. मृगया विधि, 59. वाणिज्य, 60. पाशुपाल्य, 61. कृषि, 62. आसवकर्म, 63. लाव-कुक्कुट-मेषादियुद्धकारक कौशल तथा 64. शुक-सारिका-प्रलापन।

वात्स्यायनप्रणीत कामसूत्र के टीकाकार जयमंगल ने कलाओं को दो भाग में विभाजित किया है– पहली कामशास्त्रांगभूता और दूसरी तंत्रावापौपयिकी। इन दोनों में से प्रत्येक में 64 कलाएँ हैं। इनमें से कई कलाएँ समान हैं और शेष पृथक्। पहले प्रकार 'कामशास्त्रांगभूता' में 24 कर्माश्रया, 20 द्यूताश्रया, 16 शयनोपचारिका और 4 उत्तर कलाएँ और इस प्रकार 64 मूल कलाएँ हैं। इनकी भी अवांतर कलाएँ हैं, जो सब मिलकर 518 होती हैं। इसकी सूची निम्नवत् है[11]–

24 कर्माश्रया कलाएँ

1. गीत, 2. नृत्य, 3. वाद्य, 4. कौशल-लिपिज्ञान, 5. उदार वचन, 6. चित्रविधि, 7. पुस्तकर्म, 8. पत्रच्छेद्य, 9. माल्यविधि, 10. गनयुत्स्वाद्यविधान, 11. रत्नपरीक्षा, 12. सीवन, 13. रंगपरिज्ञान, 14. उपकरणक्रिया, 15. मानविधि, 16. आजीवज्ञान, 17. तिर्यग्योनीचिकित्सित, 18. मायाकृतपाषंडपरिज्ञान, 19. क्रीडाकौशल, 20. लोकज्ञान, 21. वैचक्षण्य, 22. संवाहन, 23. शरीर-संस्कार और 24. विशेष कौशल।

20 द्यूताश्रया कलाएँ (15 निर्जीव तथा 5 सजीव कलाएँ):-

पन्द्रह निर्जीव कलाएँ– 1. आयुःप्राप्ति, 2. अक्षविधान, 3. रूपसंख्या, 4. क्रिया मार्गण, 5. बीजग्रहण, 6. नयज्ञान, 7. करणादान, 8. चित्राचित्रविधि, 9. अनुप्राप्तिलेखस्मृति, 10. अग्निकर्म, 11. छलव्यामोहन, 12. ग्रहदान, 13. तुल्याभिहार, 14. गूढ़राशि, 15. क्षिप्रग्रहण।

5 सजीव कलाएँ– 1. उपस्थान-विधि, 2. युद्ध, 3. सत, 4. गत, 5. नृत्त

16 शयनोपचारिका कलाएँ

1. पुरुष का भाव ग्रहण, 2. स्वरागप्रकाशन, 3. प्रत्यंगदान, 4. नखदन्तविचार, 5. नीवीस्रंसन, 6.

गुह्यांगका संस्पर्शनानुलोम्य, 7. परमार्थ-कौशल, 8. हर्षण, 9. समानार्थता-कृतार्थता, 10. अनुप्रोत्साहन, 11. मृदुक्रोधप्रवर्तन, 12. सम्यकक्रोध निवर्तन, 13. क्रुद्धप्रसादन, 14. सुप्त-परित्याग, 15. चरमस्वापविधि, 16. गुह्यगूहन

4 उत्तर कलाएँ:-

1. सश्रुपात रमणको शापदान, 2. स्वशपथ क्रिया, 3. प्रस्थितानुगमन, 4. पुनःपुनर्निरीक्षण।

तंत्रावापौपयिकी नामक दूसरे विभाग में निम्नलिखित 64 कलाएँ हैं– 1. गीत, 2. वाद्य, 3. नृत्य, 4. आलेख्य, 5. विशेषकच्छेद्य, 6. तंडुल-कुसुमबलिविकार, 7. पुष्पास्त्रण, 8. दशन-वासनांगराग, 9. मणिभूमिकाकर्म, 10. शयनरचन, 11. उद्यक-वाद्य, 12. उदकाघात, 13. चित्रास्त्रयोग, 14. माल्य-ग्रथन-विकल्प, 15. शेखरकापीडयोजन, 16. नेपथ्यप्रयोग, 17. कर्णपत्रभंग, 18. गनयुक्ति, 19. भूषण-योजन, 20. ऐन्द्रजाल, 21. कौचुमारयोग, 22. हस्तलाघव, 23. विचित्र शाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया, 24. पानक-रस-रागासव-योजन, 25. सूचीवानकर्म, 26. सूत्रक्रीडा, 27. वीणाडमरूवाद्य, 28. प्रहेलिका, 29. प्रतिमाला, 30. दुर्वाचकयोग, 31. पुस्तकवाचन, 32. नाटकाख्यायिका-दर्शन, 33. काव्य-समस्यापूरण, 34. पट्टिकावेत्रवानविकल्प, 35. तक्षकर्म, 36. तक्षण, 37. वास्तुविद्या, 38. रूप्यरत्न-परीक्षा, 39. धातुवाद, 40. मणिरागाकरज्ञान, 41. वृक्षायुर्वेदयोग, 42. मेषकुक्कुटलावक-युद्धविधि, 43. शुकसारिकाप्रलापन, 44. उत्साहसंवादन, 45. अक्षरमुष्टिका-कथन, 46. म्लेच्छित विकल्प, 47. देशभाषाविज्ञान, 48. पुष्पशकटिका, 49. निमित्तज्ञान, 50. यंत्रमातृका, 51. धारणमातृका, 52. सम्पाठ्य, 53. मानसी काव्यक्रिया, 54. अभिधानकोश, 55. छन्दोज्ञान, 56. क्रियाकल्प, 57. छलितक-योग, 58. वस्त्रगोपन, 59. द्यूतविशेष, 60. आकर्ष-क्रीडा, 61. बालक्रीडनक, 62. वैनयिकी-ज्ञान, 63. वैजयिकी-ज्ञान और 64. व्यायामविद्या।

शुक्राचार्य का कहना है कि कलाओं के भिन्न-भिन्न नाम नहीं हैं, बल्कि केवल उनके लक्षण ही कहे जा सकते हैं; क्योंकि क्रिया की भिन्नता से ही कलाओं में भेद होता है। जो व्यक्ति जिस कला का अवलम्बन करता है, उसकी जाति उसी कला के नाम से कही जाती है। शुक्र लिखते हैं–

यां यां कलां समाश्रित्य निपुणो यो हि मानवः।
नैपुण्यकरणे सम्यक् तां तां कुर्यात स एव हि॥[12]

(अर्थात जिस-जिस कला में जिसकी प्रवृत्ति होती है, उस-उस कला के अभ्यास से उसमें निपुणता प्राप्त होती है)

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय परम्परा में न केवल अध्यात्मविद्या व उसकी आनुषांगिक विद्याओं को महत्त्व दिया गया है बल्कि जीवन हेतु उपयोगी कलाओं (जिसे अविद्या या शिल्पनिपुणता भी कहा गया है) को भी समान महत्त्व प्रदान कर उसे परम विद्या की प्राप्ति व फलीभूत होने में सहायक माना गया है। इन विद्याओं के स्वरूप की चर्चा से यह भी स्पष्ट है कि उस समय के शिक्षण संस्थानों की पाठ्यचर्या का स्वरूप अत्यन्त विस्तृत व विशद था जिसका सम्बन्ध स्व, परिवार, समुदाय, समाज, राष्ट्र, विश्व, पेड़-पौधों, नदी-नालों, जंगलों, पहाड़ों सहित प्रकृति की विविधताओं व ब्रह्माण्ड की विविध घटनाओं से गहराई से जुड़ा था। आज के शिक्षण संस्थानों की पाठ्यचर्या में भी उतनी समग्रता नहीं है जितनी प्राचीन भारत में थी।

और इन सभी विद्याओं के शिक्षण का अधिकारी वही था जिसके आचरण में वे विद्याएँ थीं

अधितिबोधाचरणप्रचारणै।[13] परन्तु क्या आज ऐसा है ? यह प्रश्न विचारणीय है।

सन्दर्भ :

1. पणशीकर, 1985, पृ. 731
2. वही, पृ. 734
3. वही, पृ. 737
4. ईशावास्योपनिषद्, 9, 11
5. विष्णुपुराण, 1.19.41
6. हितोपदेशः, प्रथम चरण, मित्रलाभः, 6
7. श्रीमद्भगवद्गीता, 10.32
8. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.1.3
9. शुक्रनीतिसार, 4.3
10. त्रिपाठी, श्रीदुर्गादत्त, 'कल्याण', शिक्षांक, 1988, पृ. 129
11. वही, पृ. 129-131
12. शुक्रनीति
13. श्रीहर्षविरचित नैषधीयचरितम्, 1.4

❖❖❖

सरल, व्यावहारिक और उपयोगी भारतीय गणित

डॉ. चन्द्रकान्त राजू

फ़िल्म 'पूरब और पश्चिम' का एक प्रसिद्ध गाना है जिसकी पहली पंक्ति में ही गणित में भारत के योगदान का ज़िक्र होता है– ''जब ज़ीरो दिया मेरे भारत ने।'' अगली पंक्ति में दशमलव देने की बात भी कही जाती है, परन्तु यह कहानी फिर भी अधूरी है। यूरोपियों ने हिंदुस्तान से केवल अंकगणित ही नहीं, बल्कि ज्यामिति छोड़ लगभग सारा स्कूली गणित– अलजेब्रा[1], त्रिकोणमिति और कैल्कुलस[2] तथा सांख्यिकी[3] भी सीखी। भारत में गणित की जो संकल्पना विकसित थी, वह सरल, उपयोगी और व्यावहारिक थी। इस व्यावहारिक लाभ के लिए ही यूरोपियों ने उसका आयात किया। लेकिन यूरोप में गणित की विधि अलग थी। इसलिए यूरोपियों को आयातित हिंदुस्तानी गणित समझने में सदियों तक कठिनाई आयी। आख़िरकार उन्होंने उसे बदल दिया और मैथेमेटिक्स की अपनी परिकल्पना से जोड़ दिया। यूरोप में 1,500 साल से चर्च का दबदबा रहा, इसलिये मैथेमेटिक्स की यूरोपीय परिकल्पना भी चर्च की सियासत से जुड़ी थी। चर्च की सियासत अनन्त काल की परिकल्पना से जुड़ी थी[4] और मैथेमैटिक्स में अनन्त की परिकल्पना इसी के अधीन हो गयी।[5]

ब्रिटिश हुकूमत के दौरान हम पर उपनिवेशवादी शिक्षा-प्रणाली थोपी गयी। यह चर्च की ही शिक्षा-प्रणाली थी। न केवल मिशन स्कूल अपितु ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज-जैसी यूनिवर्सिटी भी चर्च ने स्थापित की और सदियों तक उनका नियन्त्रण किया। इसके अंतर्गत हमारा ही परिवर्तित गणित हमें एक झूठे इतिहास के साथ लौटा दिया (जैसा कि यह कहकर कि कैलकुलस का आविष्कार न्यूटन और लेइब्निज़ ने किया और हमें उनकी नकल करनी चाहिए)। आज़ादी के 70 साल बाद भी हम वही उपनिवेशवादी शिक्षा-प्रणाली के आज भी शिकार हैं।

हमने कभी समझा नहीं कि चर्च एक धार्मिक ही नहीं राजनीतिक संस्था भी है। उसका तीनसूत्री प्रचार सिर्फ यह था : 1. ग़ैर-पश्चिमी सब कुछ तुच्छ है, 2. पश्चिमी सब कुछ श्रेष्ठ है और 3. हमें हर छोटी-से-बड़ी बात में पश्चिम की नक़ल करनी चाहिये। इस प्रचार से प्रभावित होकर हमने मान लिया कि हम गिरे हुए हैं और आज हर छोटी-बड़ी बात में पश्चिम की अंधी नक़ल करते हैं। ख़ास तौर से हमने बग़ैर किसी समीक्षा के यह मान लिया कि गणित करने की पश्चिमी विधि ही श्रेष्ठ है। इस पश्चिमी विधि ने मूल हिंदुस्तानी गणित की व्यावहारिक उपयोगिता किसी तरह से नहीं बढ़ाई, किन्तु गणित को अत्यधिक जटिल बना दिया। इसी कारण से आज भारतवर्ष के बच्चे अधिकांशतः गणित को कठिन मानते हैं और उससे जी चुराते हैं।

---

* लेखक भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास शिमला, में टैगोर फेलो हैं।

इसलिए मैं यहाँ गणित के क्षेत्र में भारतीयों के उन योगदानों की चर्चा नहीं करूँगा जोकि फ़िल्मी गानों, इंटरनेट आदि पर बहुतायत में उपलब्ध हैं और जिनका उदाहरण कोई भी राजनेता आदि दिया ही करते हैं। क्योंकि जिस हिंदुस्तानी गणित पर हमें इतना गर्व है, वह गणित हमारी शिक्षा-प्रणाली से तलाकशुदा है।

इसलिए मैं उस सामान्य गुणगान से थोड़ा अलग हटकर और आगे बढ़ कर यह बताऊँगा कि भारतीय गणित आधुनिक (यूरोपीय) गणित की तुलना में श्रेष्ठ कैसे है।

असलियत यह है कि हमने गणित की अधिकांश विधाओं को केवल सबसे पहले ही नहीं किया, बल्कि अलग विधि से किया था। त्रिकोणमिति और ज्यामिति से लेकर कैल्कुलस तक हमने अलग विधि से किया। यदि हम इस असलियत को जान और स्वीकार लें तो इस प्रश्न का उत्तर देना ज़रूरी है कि कौन-सी विधि श्रेष्ठ है। यह समीक्षा अब तक नहीं की तो भी आज करना बहुत ज़रूरी है।

यदि हमारी विधि श्रेष्ठ और उपयोगी है, तो उस पर गर्व करना चाहिये। और बात केवल गर्व करने तक सीमित नहीं रहनी चाहिए। यदि यह विधि वाकई में श्रेष्ठ और उपयोगी है, तो इसे हमारी शिक्षा-प्रणाली में वापस अपनाया भी जाना चाहिये। ऐसा करने से हमें क्या फ़ायदे हैं, इसे संक्षिप्त में समझाने की कोशिश करूँगा।

हम इतिहास में नहीं जी सकते। इसलिए, उदाहरण के लिए, केवल यह कहना भर पर्याप्त नहीं है कि पाइथागोरस से पहले भी वह प्रमेय हमारे शुल्बसूत्रों में था।[6] हमें यह भी जानना होगा कि हमारे इस कथन पर पाश्चात्य गणितज्ञों ने प्रश्न खड़े किये हैं। उनका कहना है कि प्रमेय तो था, परंतु उसका प्रमाण नहीं था। प्रमाण पाइथागोरस ने दिया और इसलिए शुल्बसूत्रों को इस प्रमेय का श्रेय नहीं दिया जा सकता।[7] उनके इस आरोप का उत्तर भारत के किसी और गणितज्ञ ने आज तक नहीं दिया।

उत्तर दो भाग में है। पहला तो यह कोरा झूठ है कि पाइथागोरस ने प्रमेय का कोई भी प्रमाण दिया। पाइथागोरस के अस्तित्व का या उसके कथित प्रमाण का कोई भी सबूत नहीं है।[8] पश्चिम में इस प्रमेय का पहला प्रमाण दसवीं शती में, अर्थात् पाइथागोरस के कथित समय से 1500 साल बाद की पाण्डुलिपि में तुर्की में मिलता है।

दूसरी बात यह कि शुल्बसूत्रों में वर्णित प्रमेय के ठीक ऐसे प्रमाण हिंदुस्तान में भी मिलते हैं।[9] यह बात उजागर करने पर अब पश्चिम के बचाव में एक नयी समस्या उठाई जाती है कि इस हिंदुस्तानी प्रमाण में प्रत्यक्ष प्रमाण का उपयोग होता है, जिसे यूरोपीय फॉर्मल गणित में नकार दिया जाता है। (स्मरण रहे कि पाइथागोरस प्रमेय के 10वीं शती के प्रमाण में भी, और 20वीं शती तक सभी उपलब्ध प्रमाण में प्रत्यक्ष का उपयोग होता है[10]), लेकिन चर्च को प्रत्यक्ष और यथार्थ से बहुत तकलीफ़ थी, इसलिए पश्चिमी मैथेमैटिक्स में प्रत्यक्ष प्रमाण वर्जित है। यह फॉर्मल गणित, परिकल्पनाओं (axioms, postulates) से शुरू कर केवल डिडक्शन (निगमन, अनुमान) पद्धति को ही स्वीकार करता है, प्रत्यक्ष प्रमाण यानी इम्पीरिकल प्रूफ को नहीं।

यह वास्तव में गणित के दर्शन की बात है, जिसे इतिहास से जोड़ने की चाल हम कभी समझे नहीं। पश्चिमी समर्थक चर्च की कोरी नक़ल कर हमेशा यह कहने की कोशिश करते हैं कि सभी ग़ैर पश्चिमी दर्शन वाहियात हैं। यह बात हम बग़ैर किसी चर्चा के आँख मूँदकर नहीं स्वीकार कर सकते। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। फ़िलहाल सिर्फ़ इतना याद रहे कि विज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण (या एक्सपेरिमेंट) पर आधारित है और विज्ञान के विद्यार्थी ही ज़्यादा मैथेमैटिक्स सीखते हैं। तो सवाल यह उठता है कि यदि

प्रत्यक्ष प्रमाण मैथेमैटिक्स में तुच्छ है तो विज्ञान में क्यूँ नहीं ? और यदि विज्ञान में मान्य है, तो मैथेमैटिक्स में क्यूँ नहीं ? इस छोटे-से सवाल का कोई भी आज तक ज़वाब नहीं दे पाया।

अंकगणित

पश्चिम की अंधी नक़ल करने से पहले हम यह जान लें कि सरल-से-सरल हिंदुस्तानी गणित को समझने में बड़े-से-बड़े पश्चिमी विद्वानों ने सदियों तक कैसी मूर्खता दिखायी यूरोप में हिंदुस्तानी अंकगणित के आयात की बात सिर्फ़ रोमन या 'अरबी' अंकों तक सीमित नहीं है। बात एक दक्ष अंकगणित की है जो व्यापार और वाणिज्य के लिए बहुत उपयोगी था। यूरोपीय ग्रीक और रोमन अंकगणित की प्रणाली 'अबेकस' से जुड़ी थी, जो अंकगणित करने का बहुत रद्दी तरीक़ा था[11]। इसलिए फ्लोरेंस के व्यापारियों ने बारहवीं शताब्दी से 'अबेकस' छोड़ अल्गोरिथम अपनाना चालू किया।

'अल्गोरिथम' शब्द 'अल्गोरिथ्मस' से आया है जो बग़दाद के अल ख़्वारिज़्मी का लातिनी नाम था। याद रहे कि नवीं शताब्दी में अल ख़्वारिज़्मी ने 'हिसाब अल हिंद' नाम की किताब लिखी। इसी किताब को अफ्रीका में अरबी व्यापारियों से सीखकर उसका लातिनी अनुवाद फ्लोरेंस के फिबोनाच्ची ने बारहवीं शती में 'लिबेर अबेकी' के नाम से किया, जिससे यूरोप में हिंदुस्तानी-विधि का अंकगणित फैला। यह वही अंकगणित है जो आज भी हम प्राइमरी स्कूल में सिखाते हैं। लेकिन अचम्भे की बात यह है कि पश्चिम ने इसे समझने में लगभग पाँच शताब्दी से ज़्यादा लगा दिए। यूरोप के बड़े-से-बड़े विद्वानों ने हिंदुस्तानी अंकगणित की विधि समझने में ग़लतियाँ कीं। जैसे कि गर्बर्ट जो कि दसवीं शती में यूरोप का सबसे बड़ा विद्वान् माना जाता था और आगे चलकर पोप सिल्वेस्टर 2 बना, (पोप अचूक मना जाता है), ने सर्वप्रथम 976 ई. में कुर्तबा (Cordoba) से हिंदुस्तानी अंकगणित विधि 'अरबी अंकों' के नाम से आयातित की। गर्बर्ट ने अबेकस पर एक किताब लिखी थी। इसलिए उसने मूर्खतापूर्वक यह सोचा कि अंकगणित केवल अबेकस की विधि से किया जा सकता है। इसलिए उसने 'अरबी' अंकों का एक अबेकस बना दिया[12], जैसे कि अंकों के आकार में ही कुछ जादू है ! यह मूर्खता थी; क्योंकि गर्बर्ट नयी अंकगणित विधि नहीं समझा। लेकिन हम आज भी केवल अरबी अंकों और उनके हिंदुस्तानी मूल की बात करते हैं, हिंदुस्तानी अंकगणित की विधि की नहीं।

फ्लोरेंस के व्यापारियों को भी हिंदुस्तानी अंकगणित समझने में मुश्किल हुई। यह बात 'जीरो' नाम से ही स्पष्ट है। यह नाम 'जिफ्र' या अरबी 'सिफ्र' (cipher) शब्द से निकला है, जिसका अर्थ रहस्यमय कोड है। यह यूरोपियों को रहस्यमय इसलिए लगा; क्योंकि रोमन अंक सिक्कों के समान हैं। XII का अर्थ होता है 10 + 1+ 1, याने की दस का एक सिक्का और एक-एक के दो सिक्के। दशमलव-प्रणाली में 12 का अर्थ 1+2 = 3 नहीं होता लेकिन कई यूरोपियों को लगा कि ऐसा होना चाहिए। उन्होंने कहा कि जीरो का कोई मान नहीं है, इसलिए 10 और 1 एक बराबर होना चाहिए। यह कठिनाई लेन-देन में चकमा देने का सरल तरीका बन गया। जैसे कि 125 की करार को आसानी से 12500 की करार में बदला जा सकता था।

इसलिए 13 वीं शताब्दी में फ्लोरेंस ने अरबी-अंकों के ख़िलाफ़ क़ानून बनाया कि कोई भी वित्तीय करार को अंकों और शब्दों– दोनों में लिखना ज़रूरी है। इस क़ानून का पालन हम आज भी चेक लिखने में करते हैं। और इसी कारण आज हम सिर्फ़ ज़ीरो की बात करते हैं, हिंदुस्तानी अंकगणित की दक्षता की नहीं।

यूरोपियों ने अंकगणित ही नहीं अलजेब्रा, त्रिकोणमिति, कैल्कुलस और सांख्यिकी का

आयात भी हिंदुस्तान से किया। इसे समझने में उन्हें अंकगणित से कुछ बढ़कर कठिनाइयाँ आयीं।

'अलजेब्रा' नाम अल ख़्वारिज्मी की किताब 'अल जब्र वाल मुक़ाबला' से आता है जो कि ब्रह्मगुप्त के अव्यक्त गणित और उससे समीकरण (मुक़ाबला) को ज़बरन हल करने की विधि का अरबी-अनुवाद है। इस अव्यक्त गणित का कैल्कुलस में जो उपयोग हिंदुस्तान में हुआ और आज भी है, वह पश्चिमी विद्वानों ने आज तक नहीं समझा।[13]

ऋग्वेद (10.2.34) के अक्ष सूक्त में और महाभारत में नल और दमयन्ती की कथा में[14] सांख्यिकी के सिद्धान्त को लेकर झाड़ में फल को गिनने का वर्णन है। सांख्यिकी के सिद्धान्त के पश्चिमी दर्शन में आज की तारीख़ में भी जो अस्पष्टता है, उसकी चर्चा मैं अलग से कर चुका हूँ[15] और यहाँ नहीं करूँगा।

इसी तरह त्रिकोणमितीय फलन साइन (sine) हिंदुस्तानी नाम 'जीवा' का ग़लत अनुवाद है। यह अनुवाद टोलेडो में 12वीं शताब्दी में हुआ, जब अरबी किताबों का लैटिन में सामूहिक अनुवाद हुआ। अनुवाद दो चरणों में हुआ। पहले चरण में अनुवाद करनेवाले मोज्हरब और यहूदी गणित नहीं जानते थे। अरबी में जीवा को जीबा लिखा जाता था। उस ज़माने में नुक्ता प्रचलित नहीं थे तो सिर्फ़ व्यञ्जन ज और ब लिखे और अनुवाद करनेवालों ने उससे (ग़लत) जेब शब्द निकाला। दूसरे चरण में लैटिन में अनुवाद करनेवाले ने जेब का अनुवाद sinus किया; क्योंकि जेब कपड़े को मोड़ (विसक) कर बनाई जाती है। इसी ग़लत अनुवाद से साइन बना।

एक्जैक्ट या व्यावहारिक

यूरोपियों को सर्वाधिक कठिनाई कैल्कुलस समझने में आयी। 16वीं शताब्दी में जेसुइट लोगों ने कोचीन से कैल्कुलस की चोरी की। यूरोपीय नाविकशास्त्र में 1762 तक कमज़ोर थे और अच्छे नाविकशास्त्र के लिए सटीक त्रिकोणमितीय मान चाहते थे। उन्हें निकालने की विधि यूरोपियों को नहीं आती थी। लेकिन हिंदुस्तान में सटीक त्रिकोणमितीय मान कैल्कुलस की अनन्त श्रेणी के सहारे ही निकले।

यूरोपियों को कैल्कुलस की अनन्त श्रेणी का योग समझने में अत्यधिक कठिनाई आयी।[16] इस कठिनाई का कारण यह था कि पश्चिमी मैथेमैटिक्स पुराने ज़माने से पारलौकिक दर्शन से जुड़ी है। अफलातून[17] के ज़माने से यूरोपियों ने मैथमेटिक्स को मजहब और आत्मा से जोड़ा। इसलिए उनका यह मानना था की मैथमेटिक्स शाश्वत सत्य है (जो अमर आत्मा को उसकी निद्रा से जगाता है)। इसके विपरीत हिंदुस्तान में गणित सदैव व्यावहारिक था।

चूँकि यूरोपियों ने मैथमेटिक्स को अंधविश्वासी तरीक़े से शाश्वत सत्य से जोड़ा, इसलिए उनका मानना था कि मैथमेटिक्स एक्जैक्ट (exact) है और उसमें छोटी-से-छोटी त्रुटि भी नहीं हो सकती।[18] व्यवहार में हमें सटीकता (precision) की तो ज़रूरत पड़ती है, लेकिन एक्जैक्ट (त्रुटिहीन) होना किसी भी व्यावहारिक उपयोग के लिए ज़रूरी नहीं है।

अनन्त श्रेणी का योग एक्जैक्ट होना सम्भव ही नहीं है। उदाहरण के लिए 2 का वर्गमूल लीजिए। हिंदुस्तान में यह शुल्बसूत्र में पाया जाता है,[19] और उसका एक ख़ास नाम है 'सविशेष' याने अवशेष के साथ। हिंदुस्तान में वर्गमूल निकालने का एक एल्गोरिथ्म (algorithm) था[20] (और कुछ ऐसी ही विधि इराक और अफ्रीका में भी पाई जाती है। लेकिन यूरोप में यह विधि 12वीं शताब्दी के बाद आयी), इसलिए हिंदुस्तानियों को यह पता था कि 2 के वर्गमूल निकालने की विधि का कोई अन्त नहीं है। यानी यदि हम 2 के वर्गमूल का दशमलव-विस्तार करें, तो यह एक अनन्त श्रेणी होगी

$$\sqrt{2} = 1 + \frac{4}{10} + \frac{1}{100} + \frac{4}{1000} + ..,$$

(तीन बिन्दुओं ... का अर्थ है कि इस श्रेणी का अन्त नहीं है)।

अनन्त होने के कारण उपर्युक्त श्रेणी का वास्तव में कोई एग्जैक्ट (exact) योग नहीं है। इसके किन्हीं दो पदों को हम कितने भी ज़ल्दी जोड़ें, उसमें कुछ-न-कुछ तो समय लगेगा ही। इसलिए सभी अनन्त पदों को अगर एक-एक करके जोड़ा जाए, तो इसमें अनन्त काल लग जाएगा और मनुष्य की ज़िंदगी काल से सीमित है। अगर हम कुछ सीमित पदों के बाद रुक जाते हैं, तो छोटी-मोटी त्रुटि रह जाएगी। इसलिए हिंदुस्तान में इसका नाम 'सविशेष' रखा गया।

अनन्त श्रेणी के एग्जैक्ट (exact) योग की कोई व्यावहारिक उपयोगिता भी नहीं, छोटी-मोटी त्रुटि मान्य है। व्यवहार में दस या बीस दशमलव स्थान काफ़ी हैं, जैसे–$\sqrt{2} = 1.414213560151/$ और अगर कभी ज़्यादा सटीकता की जरूरत पड़ती है, तब इसका मान सौ या हजार दशमलव स्थान तक निकाला जा सकता है। आज की तारीख़ में कंप्यूटर का इस्तेमाल कर हम उसी विधि से अरब-खरब दशमलव स्थान तक यह कर सकते हैं। लेकिन यह बात दुहराना ज़रूरी है कि त्रुटिहीनता तो क्या, ऐसी सटीकता की भी आज की तारीख़ में व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है।

लिमिटविहीन था कैल्कुलस

अनन्त श्रेणी के योग की यूरोपीय समस्या कैल्कुलस के कारण और जटिल हो गयी। यह तो सभी जानते हैं कि कैल्कुलस के सहारे ही भौतिकी के सभी अवलोकन समीकरण (differential equations) लिखे जाते हैं, परंतु बहुत कम यह जानते हैं कि कैल्कुलस का अविष्कार वास्तव में पाँचवीं शती में आर्यभट ने भारत में संख्यात्मक रूप से किया था।[21] संगमग्राम के माधव ने इसी विधि से ज्या, कोज्या, इत्यादि के सटीक मान 10 दशमलव स्थान तक निकाले और हम इससे संतुष्ट थे; क्योंकि इससे अधिक सटीकता की कुछ व्यावहारिक उपयोगिता तब नहीं थी। इसी कारण से आर्यभट ने पाई (π) के सटीक मान को आसन्न कहा।[22] लेकिन पश्चिमी अंधविश्वास के अनुसार मैथमेटिक्स को एग्जैक्ट होना ज़रूरी है, और उसके लिए 10 दशमलव स्थान तो क्या, अरब-खरब दशमलव स्थान की सटीकता भी काफ़ी नहीं है। यूरोपियों को सारे-के-सारे अनन्त दशमलव स्थान चाहिए थे, जो कि वास्तव में सम्भव ही नहीं है। मैथमेटिक्स एग्जैक्ट है, इस अंधविश्वास के कारण यूरोपियों ने सोचा कि जो चीज एग्जैक्ट नहीं है, वह मैथमेटिक्स नहीं हो सकती। डेकार्ट ने अपनी 'ज्यामिति' नाम की किताब में लिखा (पाई की अनन्त श्रेणी की तरफ़ इशारा करते हुए) कि सीधी रेखा (व्यास) और वक्र रेखा (परिधि) की तुलना करना (यानि पाई की अनन्त श्रेणी का त्रुटिहीन योग निकालना) मनुष्य के दिमाग से परे है।[23]

चूँकि अनन्त श्रेणी का योग भौतिक रूप से निकालना असम्भव है, इसलिए यूरोपियों ने अनन्त श्रेणी का योग गैरभौतिक (metaphysical) या कल्पनामात्र तरीक़े से निकाला। इसके लिए काल्पनिक या ग़ैर-वास्तविक वास्तविक संख्याओं (real numbers) और सीमा (limits) की भी कल्पना की। ध्यान रहे कि इन ग़ैर-वास्तविक और कल्पनामात्र संख्याओं को हम आज 'वास्तविक संख्या' कहकर स्कूल में सिखाते हैं और बच्चों को भ्रमित करते हैं। उपनिवेशवादी शिक्षा ने फिर हमें यह बताया कि मैथेमैटिक्स करने का यह ग़ैरभौतिक तरीक़ा श्रेष्ठ है। हमारे ही गणित पर एक ग़ैरभौतिक परत लगाकर हमें लौटा दिया।

आर्यभट ने कैल्कुलस, संख्यात्मक विधि से किया था जो आज की लिमिट वाले कैल्कुलस से कहीं अधिक सरल और उपयोगी है। यही तरीक़ा आज कैल्कुलस से सभी व्यावहारिक उपयोग (जैसे कि आदमी को चाँद पर भेजने) में इस्तेमाल किया जाता है। इस विधि से कैल्कुलस पढ़ने से वह सरल भी हो जाता है। विद्यार्थी को कुछ भी रटना नहीं पड़ता और वह केवल पाँच दिनों में इसे समझ जाते हैं। फिर उससे कठिन-से-कठिन सवाल का हल कर सकते हैं, ऐसे भी सवाल जिसका हल सामान्य कैल्कुलस में पढाया नहीं जाता। उदहारण के लिए यह प्रश्न पत्र देखिये।[24] इस विधि को देश-विदेश के दस विश्वविद्यालयों में पढ़ाकर इस बात को सिद्ध किया जा चुका है[25] और आज फिर से पढ़ाया जाना प्रारम्भ हुआ है।[26] लेकिन हम आज भी उपनिवेशवाद के शिकार हैं और शिक्षा में पश्चिम की अंधी नकल करना अपना परम धर्म मानते हैं।

दुःख की बात यह भी है कि मैथमैटिक्स की ग़लत पश्चिमी विधि से एक ही प्रहार में हमारे सारे दर्शन और संस्कृति का नाश हो जाता है; क्योंकि हमारे सभी दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण मान्य है, लेकिन मैथेमैटिक्स में प्रत्यक्ष प्रमाण वर्जित है।

पहले संस्कृति की बात करते हैं। ग़ैर-वास्तविक वास्तविक संख्याओं (unreal real number) के सहारे हम काल्पनिक 'वास्तविक रेखा' (real line) की अवधारणा बचपन से सिखाते हैं। भौतिकी के सभी अवकलन समीकरण (differential equations) कैलकुलस के सहारे लिखे जाते हैं। इस ग़लत विधि से कैल्कुलस करने के कारण वास्तविक संख्याओं का प्रयोग कैल्कुलस के लिए ज़रूरी माना जाता है। इसलिए काल की अवधारणा भी रेखाकार बन जाती है और इसे विज्ञान कहा जाता है।[27]

लेकिन वेद और उपनिषद में (और अफलातून के लेखों में भी) जिस आत्मा का ज़िक्र है, वह कालचक्र या लगभग चक्रीय काल (quasi cyclic time) की अवधारणा पर आधारित है।[28] काल की ऐसी चक्रीय कल्पना को चर्च ने अपनी राजनीति के लिए अपना सबसे बड़ा शाप (anathema) दिया।[29] इसलिए कैल्कुलस पढ़ाने की आज की विधि से यह आसानी से सिद्ध हो जाता है कि 'विज्ञान' के अनुसार चर्च सही है और वेदोपनिषद् ग़लत हैं। किसी और हिंदुस्तानी गणितज्ञ या वैज्ञानिक या दार्शनिक को यह बात आज तक समझ में नहीं आयी। याद रहे कि यह निष्कर्ष पूरे ही ग़ैर-भौतिक तरीक़े से निकला है, लेकिन इसे भौतिकी कहा जाता है।

स्टीफन हॉकिंग के विज्ञान का सार यही था और इसलिए पश्चिम में उसका ऐसा महिमागान हुआ।[30] एक अमेरिकी भौतिकशास्त्री टिपलर[31] ने साफ़-साफ़ यह लिख दिया कि हॉकिंग के विज्ञान ने चर्च की हठधर्मिता पूरी तरह से सिद्ध कर दी है। हालांकि मैं यह बात विगत 15 साल से[32] समझाने की कोशिश कर रहा हूँ, परन्तु यह बात हमारे वैज्ञानिकों और गणितज्ञों के पल्ले नहीं पड़ी; क्योंकि वह सब कैल्कुलस पश्चिमी विधि से ही सीखते हैं।

प्रत्यक्ष बनाम कल्पना

जहाँ तक गणित के दर्शन की बात है, सारे हिंदुस्तानी दर्शन, प्रत्यक्ष प्रमाण को पहला प्रमाण मानते हैं, लेकिन पश्चिम में गणित की विधि में प्रत्यक्ष प्रमाण वर्जित है और उसे अविश्वसनीय माना जाता है। भारतीय गणित, भारतीय दर्शनों की भाँति प्रत्यक्ष प्रमाण को भी स्वीकार करता है।

जैसा कि आर्यभट ने कहा[33] कि ऊर्ध्वता लम्ब के सहारे सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष स्वीकार किया, इसका कतई यह मतलब नहीं कि अनुमान (निगमन, डिडक्शन) वर्जित था। उसी आर्यभट ने कहा कि

पृथिवी कदम्ब के फूल के समान गोल है।[34] उसने अन्तरिक्ष में जाकर पृथिवी को प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखा। उसके अनुयायी बताते हैं कि दूर के झाड़ दिखाई नहीं देते। और इस बात से पृथिवी चपटी नहीं है, का पता चलता है।[35] समुद्र में चलता जहाज क्षितिज में विलीन हो जाता है और क्षितिज गोलाकार है। इससे यह पता चलता है कि पृथिवी गोलाकार है। यहाँ से क्षितिज की दूरी नापने से पृथिवी का व्यास निकाला जा सकता है और यह सभी भारतीय गणितज्ञों ने काफ़ी सटीकता से किया।

पश्चिमी गणित के दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण अविश्वसनीय है (और इसलिए सारे हिंदुस्तानी दर्शन भी अविश्वसनीय हैं; क्योंकि वे विज्ञान के समान प्रत्यक्ष को पहला प्रमाण मानते हैं!)। पश्चिम (याने चर्च) का मानना है कि डिडक्शन (अनुमान) पर आधारित प्रमाण ही विश्वसनीय और अचूक है। तो प्रत्यक्ष प्रमाण की नामंजूरी के पूर्व-पक्ष का खण्डन ज़रूरी है और उसके बिना हिंदुस्तानी गणित पर गर्व व्यर्थ है।

डिडक्टिव-प्रमाण चूक सकता है

डिडक्टिव-प्रमाण अचूक है यह महज पश्चिमी अंधविश्वास है। डिडक्टिव-प्रमाण कई कारणों से चूक सकता है। जैसे ग़लत डिडक्टिव प्रमाण को ग़लती से सही माना जा सकता है। ऐसा यूक्लिड की किताब 'एलिमेंट्स' में दिए गए प्रमाणों के साथ हुआ। वे सभी-के-सभी ग़लत डिडक्टिव प्रमाण थे, लेकिन पश्चिमी अंधविश्वासियों ने सदियों तक उन्हें सही माना। इन्द्रियों के मुक़ाबले में दिमाग ज़्यादा आसानी से धोखा खा सकता है, इसलिए अनुमान (निगमन) प्रत्यक्ष से कमज़ोर है।[36]

जैसे हिंदुस्तान में लोकायत दर्शन मानता था, अनुमान (निगमन, डिडक्शन) में चूकने के और भी कारण हैं। यदि हम ग़लत परिकल्पना (axiom, postulate, assumption) से शुरू करते हैं, तो निष्कर्ष ग़लत निकलेगा। सारी-की-सारी आधुनिक मैथेमैटिक्स सेट थ्योरी और अनन्त की परिकल्पना से जुड़ी है। इसकी प्रत्यक्ष के आधार पर जांच असम्भव है। अनन्त की अलग-अलग परिकल्पनाएँ हो सकती हैं, तो हिंदुस्तानी तरीक़ा क्यों न अपनाएँ?

दूसरी बात यह कि डिडक्शन, लॉजिक पर आधारित है। पश्चिम में यह चर्च का अंधविश्वास रहा कि लॉजिक सार्वभौमिक है; क्योंकि गॉड भी इससे बँधा है। इसलिए फॉर्मल गणित के सभी प्रमाण बायनरी लॉजिक पर आधारित हैं। हिंदुस्तान में न्याय-वैशेषिक दर्शन-प्रणाली में यह बायनरी लॉजिक मिलती है। लेकिन हिंदुस्तान में असली अरस्तु के पहले से भी और भी अलग-अलग किस्म के लॉजिक पाए जाते हैं, जैसे– बौद्ध चतुष्कोटि, जैन स्यादवाद, इत्यादि।[37] तो सांस्कृतिक तौर पर लॉजिक सार्वभौमिक नहीं है। तो लॉजिक का आधार भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही हो सकता है। यदि प्रत्यक्ष से देखा जाए, तो हमें क्वांटम लॉजिक[38] के बारे में भी सोचना होगा। और इसलिए लॉजिक बायनरी होना ज़रूरी नहीं है, जैसे पश्चिम के गणित दर्शन ने ग़लत माना है। इसलिए भी डिडक्शन प्रत्यक्ष प्रमाण से कमज़ोर है।

असल में अनुमान (निगमन, डिडक्शन) पर आधारित प्रमेय वैध ज्ञान ही नहीं होता। बल्कि सुविधाजनक प्रतिज्ञा (postulates) से शुरूआत कर कोई भी बकवास प्रमेय सिद्ध किया जा सकता है, जैसे–

1. सभी जानवर के दो सींग होते हैं।
2. खरगोश एक जानवर है।
3. इसलिए खरगोश के दो सींग होते हैं।

डिडक्शन एकदम सही है, लेकिन निष्कर्ष ग़लत है। हिंदुस्तानी दर्शन में खरगोश के सींग की

बात पूरे बकवास का उदाहरण है। इस बकवास का डिडक्टिव प्रमाण 2 प्रतिज्ञाओं पर आधारित है, जिसमें से पहली प्रतिज्ञा (सभी जानवर के दो सींग होते हैं) ग़लत है। लेकिन यह ग़लत इसलिए है कि हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि कई एक जानवर ऐसे हैं जिनके सींग नहीं है। लेकिन पश्चिमी औपचारिक गणित (formal mathematics) में प्रत्यक्ष पूर्णतः वर्जित है, तो हमें यह बात कैसे पता? रसेल का कहना है कि[39] डिडक्टिव-प्रमाण किसी भी प्रतिज्ञाओं से शुरू हो सकता है जो हमें हास्यस्पद (amusing) लगती हैं, और मुझे सभी जानवर के दो सींगों की बात अत्यन्त हास्यास्पद लगती है।

याद रहे कि हिंदुस्तानी गणित (normal mathematics) में दोनों– प्रत्यक्ष और अनुमान– का उपयोग होता है, जैसा पहले बता चुके हैं कि आर्यभट ने पृथिवी के गोलाकार का अनुमान प्रत्यक्ष के आधार पर किया। अवलोकन और अनुमान– दोनों का सहारा लेना विज्ञान की भी विधि है। लेकिन न आर्यभट ने, न विज्ञान ने कभी अचूक होने का दावा किया जैसे कि पश्चिमी गणित डिडक्शन में अंधविश्वास के सहारे करता है।

तो अचूक होना तो दूर, डिडक्शन के आधार पर कोई भी बकवास प्रमेय प्रमाणित किया जा सकता है। सिर्फ़ डिडक्शन से प्रमाणित प्रमेय वैध ज्ञान है या अवैध है– यह प्रतिज्ञा की सच्चाई पर निर्भर करता है, सिर्फ़ प्रमाण की नहीं। विज्ञान और साधारण गणित में यह सच्चाई हम प्रत्यक्ष के आधार पर जाँच सकते हैं। लेकिन यह विधि पश्चिमी फॉर्मल गणित में उपलब्ध नहीं है; क्योंकि वह अपने आपको श्रेष्ठ और अचूक बताने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण को वर्जित करता है। इसके बदले फॉर्मल गणित हमें यह सिखाता है कि आधिकारिक रूप से जो भी प्रतिज्ञाएँ पश्चिमी लोगों ने बना रखी हैं (सेट थ्योरी इत्यादि), उनमें हमें विश्वास करना चाहिए जैसा कि हमारे सारे गणितज्ञ आज की तारीख़ में करते हैं।

वाकई में 1+1=2 के प्रमाण के लिए भी फॉर्मल गणित की जो प्रतिज्ञाएँ (postulates, axioms) ज़रूरी हैं, उनकी जांच प्रत्यक्ष के आधार पर की ही नहीं जा सकती; क्योंकि वे प्रतिज्ञाएँ अनन्त की एक ख़ास पश्चिमी परिकल्पना से जुड़ी हैं। ज़्यादातर गणितज्ञ भी अनन्त की यह परिकल्पना (सेट थ्योरी) इत्यादि अच्छे से नहीं समझते, तो यह समझना तो दूर रहा कि अनन्त की यह परिकल्पना सार्वभौमिक नहीं है बल्कि चर्च की अनन्त काल की (राजनीतिक कारणों से जुड़ी) परिकल्पना से ख़ास ताल-मेल रखती है।[40] और यह अनन्त काल की कल्पना हिंदू-धर्म की लगभग चक्रीय काल (quasi-cyclic time) के विपरीत है।

आजकल जो सिखाया जा रहा है, उस गणित की कठिनाई इस ग़ैर-भौतिक पक्ष पर ज़ोर देने से जुड़ी है। प्रत्यक्ष प्रमाण के सहारे 1+1=2 बहुत आसानी से समझाया जा सकता है, जैसे हम किंडरगार्टन में आज भी सिखाते हैं कि एक अनार और एक अनार से दो अनार बनते हैं। लेकिन 1+1=2 के प्रमाण के लिए बर्टरैंड रसेल को 378 पन्ने इसलिए लगे क्योंकि इसमें अनन्त की परिकल्पना निहित रूप से आ जाती है। (क्योंकि हमें यह बतलाना ज़रूरी पड़ता है कि हम पूर्ण संख्याओं (integers) की बात कर रहे हैं और पूर्ण संख्याएँ अनन्त हैं)। जब इतनी सरल चीज़ इतनी जटिल बन जाती है, तो बाकी गणित का क्या होगा!

ज्योमेट्री बॉक्स या सुतली?

प्रत्यक्ष को चर्च की विधि से नीचा दिखाने के लिए आज भी हमारी पाँचवीं और छठी कक्षा की पाठ्यपुस्तकें यह सिखाती है कि ज्यामिति में बिंदु अदृश्य है, और यदि दिखता है तो ग़लत है। ऐसे ग़ैर-भौतिक तत्त्व के महिमागान से स्कूली बच्चे भ्रमित हो जाते हैं। भला बच्चा दो अदृश्य बिदुओं के बीच की

दूरी कैसे नाप सकता है?

कुछ चीजें अदृश्य होतीं हैं, लेकिन उनका अनुमान लगाया जा सकता है। लेकिन अद्दश्य बिंदु कहाँ है, उसका किसी भी विधि से अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। बच्चों को और अधिक भ्रमित करने के लिए, आगे चलकर नवीं कक्षा की पाठ्यपुस्तक यह सिखाती है कि ज्यामिति के बिंदु की परिभाषा भी नहीं की जा सकती। न दिखता है, न अनुमान लगा सकते हैं और न ही दूसरे शब्दों में परिभाषा की जा सकती है। ऐसे में बच्चा क्या सीख सकता है– केवल रटना। और यही औपनिवेशवादी शिक्षा का उद्देश्य है।

बच्चा, जो व्यावहारिक ज्यामिति सीखता है, वह केवल कम्पास बॉक्स के सहारे सीखता है, जिसमें बिंदु प्रत्यक्ष दिखाई देता है और इसलिए दो बिंदुओं की दूरी नापी जा सकती है (जो अद्दश्य बिंदुओं के साथ नहीं किया जा सकता)। ठीक चर्च की विधि से हम दोनों चीजें सिखाते हैं कि बिंदु अदृश्य भी है और दृश्य भी।[41] अचम्भे की बात यह है कि माँ-बाप और पालकों को इस तरह का बकवास सिखाने से कोई ऐतराज़ नहीं। यह है उपनिवेशवादी शिक्षा की ताकत, जो हमें सामान्य बुद्धि में अविश्वास सिखाती है और पूरी तरह नपुंसक बना देती है। और हमारी गणित की शिक्षा-प्रणाली में जहाँ प्रत्यक्ष का इस्तेमाल होता भी है, वह भी पश्चिमी तरीके से; क्योंकि कम्पास बॉक्स उपनिवेशवादी शिक्षा के साथ आया। यह हिंदुस्तानी पद्धति में नहीं पाया जाता था।

भारत में ज्यामिति पढ़ाने के लिए 'सुतली' का प्रयोग होता था। सुतली को ही 'शुल्ब' भी कहते हैं। आज भी भारत में बढ़ई, राजमिस्त्री आदि कारीगर सुतली से ही नापने का सारा काम करते हैं। इसका इस्तेमाल कर ज्यामिति सिखाने की शुल्बसूत्र पर आधारित विधि पर पाठ्यपुस्तक तैयार है।[42] सुतली की तुलना ज्योमेट्री बॉक्स से करें। ज्योमेट्री बॉक्स, ज्यामिति पढ़नेवाले सभी बच्चे खरीदते ही हैं, लेकिन इसके अन्दर के सभी सामानों का प्रयोग नहीं करते। उसमें से केवल 'डी' (D), जिसे चाँद भी कहते हैं, परकार और स्केल ही उपयोग में आते हैं। डिवाइडर और त्रिभुजों का कोई प्रयोग नहीं होता। इसपर भी सभी इस ज्योमेट्री बॉक्स को खरीदते ही हैं; क्योंकि उपनिवेशवादी शिक्षा रस्में सिखाती है।

इस तरह ज्योमेट्री सीखनेवाला बच्चा कभी भी भूमि पर लम्ब नहीं डाल सकता। साथ ही वक्र रेखा को नापना और टेढ़ी-मेढ़ी मेड़वाले खेत का क्षेत्रफल निकालना इससे सम्भव नहीं है। परन्तु भारतीय परम्परागत गणित से यह आसानी से किया जा सकता है। इसलिए अब 'रोप ज्योमेट्री' (रज्जू गणित) की बात होने लगी है। प्रत्यक्ष रूप से कोई भी बच्चा एक सुतली लेकर रज्जू गणित की विधि से व्यास और परिधि को नापकर, सीधी और वक्र रेखा की तुलना कर पाई का मान निकाल सकता है, इसके लिए लम्बे-चौड़े प्रमेयों और डिडक्शन की कोई आवश्यकता नहीं है।

सुतली स्केल का काम तो कर ही सकती है, लेकिन वह डी का काम भी करती है। यानि ज्योमेट्री बॉक्स के बदले सुतली पर्याप्त है। हम आज यह नहीं सिखाते कि डी कैसे बनाया जाता है और वृत्त की परिधि को 360 बराबर भागों में कैसे विभाजित किया जाता है। यह इसलिए कि हम आज कोण की ग़लत परिभाषा अपनाते हैं। यह 'कोण' शब्द हिंदुस्तानी पद्धति में 1723 ई. के बाद आता है, जब सम्राट् जगन्नाथ नामक गणितज्ञ ने, सवाई जयसिंह के कहने पर, पश्चिमी ज्यामिति का 'रेखागणित' नाम से अनुवाद किया।

इसके पहले ऋग्वेद (1.164.11, 1.164.48) और वेदांगज्योतिष (ऋक् 11) के ज़माने से 'चाप' शब्द ही इस्तेमाल होता था और चाप की सापेक्ष लम्बाई ही नापी जाती थी, और पूरे वृत्त

को 360 या 720 भागों में बांटा जाता था। चूँकि चाप एक वक्र रेखा है, इसलिए कोण या चाप की सापेक्ष लम्बाई सुतली से ज़्यादा आसानी से नापी जा सकती है। इसके कई फ़ायदे हैं जो मैं अपने 'रज्जू गणित' की किताब में समझा चुका हूँ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अंकगणित, त्रिकोणमिति, बीजगणित, रेखागणित, कैल्कुलस, सांख्यिकी, आदि गणित की सभी विधाओं का भारत में न केवल विकास हुआ था, बल्कि वह अधिक सरल, उपयोगी और व्यावहारिक था और आज भी है। यदि हमें भारतीय गणित पर गर्व है, तो हमें यही पद्धति अपनी शिक्षा-प्रणाली में भी अपनानी चाहिए।

सन्दर्भ :

1. H.T. Colebrooke, *The Algebra of Brahmegupta and Bhascara*, John Murray, London, 1817.
2. C.K. Raju, *Cultural Foundations of Mathematics: the nature of mathematical proof and the transmission of calculus from India to Europe in the 16th c. CE*, Pearson Longman, 2007.
3. C.K. Raju, "Probability in Ancient India", *Handbook of the Philosophy of Science*, Vol. VII, *Philosophy of Statistics,* ed. Prasanta S. Bandyopadhyay and Malcolm R. Forster. General Editors: Dov M. Gabbay, Paul Thagard and John Woods. Elsevier, 2011, pp. 1175-1196.
4. C.K. Raju, *The Eleven Pictures of Time*, Sage 2003, chp. 2, "The curse on 'cyclic' time".
5. C.K. Raju, "Eternity and Infinity: the Western misunderstanding of Indian mathematics and its consequences for science today." *American Philosophical Association Newsletter on Asian and Asian American Philosophers and Philosophies* 14(2) (2015) pp. 27–33. http://ckraju.net/papers/Eternity-and-infinity-Pages-from-APA.pdf.
6. http://www.thehindu.com/news/national/algebra-pythagoras-theorem-originated-in-india-vardhan/article6753701.ece
7. http://ganashakti.com/english/comments/details/156
8. C.K. Raju, "The Pythagorean controversy", *Frontier Weekly* 47(34) 1-7 March 2015. http://www.frontierweekly.com/archive/vol-number/vol/vol-47-2014-15/47-34/47-34-The%20Pythagorean%20Controversy.html
9. C.K. Raju, "Computers, Mathematics Education, and the Alternative Epistemology of the Calculus in the YuktiBhāā", *Philosophy East and West*, 51:3 (2001) pp. 325–362. http://ckraju.net/papers/Hawaii.pdf.
10. C.K. Raju, *Euclid and Jesus*, Multiversity, Penang, 2012.
11. C.K. Raju, talk at Massachusetts Institute of Technology, Cambridge, Mass., May 2015, "Calculus: the real story", https://www.youtube.com/watch?v=IaodCGDjqzs.
12. See, MIT video, cited earlier.
13. C.K. Raju, in: *Encyclopedia of Non-Western Science, Technology, and Medicine*, Springer, Dordrecht, 2016, Calculus, pp. 1010-1015. http://ckraju.net/papers/Springer/ckr-Springer-encyclopedia-calculus-1-final.pdf, Calculus transmission, pp.1016-1022. http://ckraju.net/papers/Springer/ckr-Springer-encyclopedia-calculus-2-final.pdf.
14. *Mahabharata*, Van Parva, 72, trans. K.M. Ganguly, 1883-1896, Book 3, pp.150-51.
15. C.K. Raju, "Probability in Ancient India", *Handbook of the Philosophy of Science*, Vol. VII, Philosophy of Statistics, ed. Prasanta S. Bandyopadhyay and Malcolm R. Forster. General Editors: Dov M. Gabbay, Paul Thagard and John Woods. Elsevier, 2011, pp. 1175-1196. http://www.ckraju.net/papers/Probability-in-Ancient-India.pdf.
16. C.K. Raju, *Cultural Foundations of Mathematics: the nature of mathematical proof and the transmission of calculus from India to Europe in the 16th c. CE*, Pearson Longman, 2007.
17. Plato, Meno, trans. B. Jowett, http://classics.mit.edu/Plato/meno.html. (Search for second occurrence of "soul".) For more details, see *Euclid and Jesus*, cited earlier.
18. See, *Cultural Foundations of Mathematics*, cited earlier, p.380, quote from Berkeley's critique of Newton and Leibniz. Or George Berkeley, *The Analyst or a Discourse Addressed to an Infidel Mathematician*, ed. D.R. Wilkins, 1734. Available online at http://www.maths.tcd.ie/pub/HistMath/People/Berkeley/Analyst/Analyst.html, IV, V.
19. बौधायनशुल्बसूत्र, 2.12

20. आर्यभटीय, गणितपाद, 4
21. *Cultural Foundations of Mathematics*, cited earlier, chp. 3.
22. आर्यभटीय, गणितपाद, 10
23. Renī Descartes, *The Geometry*, Book 2, trans. David Eugene and Marcia L. Latham, *Encyclopædia Britannica*, Chicago, 1990, p.544.
24. http://ckraju.net/sgt/Tutorial-sgt.pdf.
25. C.K. Raju, "Teaching Mathematics with a Different Philosophy. 1: Formal mathematics as biased metaphysics". *Science and Culture* 77 (2011) 275–80. arXiv:1312.2099. "Teaching Mathematics with a Different Philosophy. 2: Calculus without limits". *Science and Culture*, 77 (2011) 281–86. arXiv:1312.2100.
26. https://www.facebook.com/sgtuniversitygurgaon/posts/835428686620798. Also, http://ckraju.net/sgt/poster-calculus-without-limits.pdf.
27. C.K. Raju, "Thinking together: decolonising time", talk at Maerz Musik festival, Berlin, 18 March 2017. https://www.youtube.com/watch?v=jltPVAkOVLg.
28. C.K. Raju, *The Eleven Pictures of Time*, Sage, 2003.
29. C.K. Raju, "The curse on 'cyclic' time", *Eleven Pictures of Time*, cited above, chp. 2.
30. *Eleven Pictures of Time*, cited above. Also, "The Christian propaganda in Hawking's work", *DNA*, 16 Jan 2011, http://www.dnaindia.com/lifestyle/review-the-christian-propaganda-in-stephen-hawking-s-work-1495047. And, "Stephen Hawking: Genius or crook?" https://www.din.today/newsletter/2018_04/c-k-raju-stephen-hawking-genius-or-crook/.
31. F.J. Tipler, *The Physics of Immortality*, Macmillan, 1995.
32. C.K. Raju, *The Eleven Pictures of Time*, Sage, 2003.
33. आर्यभटीय, गणितपाद, 13
34. आर्यभटीय, गोलपाद, 6
35. लल्ल, शिश्यधीव्रिधद, अ. 20, मिथ्यज्ञाननिराकरणम्
36. C.K. Raju, "Decolonising mathematics", *AlterNation* 25(2) (2018) pp.12-43b. https://doi.org/10.29086/2519-5476/2018/v25n2a2.
37. C.K. Raju, "Logic" in: *Encyclopedia of Non-Western Science, Technology, and Medicine, Springer, Dordrecht*, 2008, 2016, pp.2564-2570. http://ckraju.net/papers/Nonwestern-logic.pdf.
38. C.K. Raju, *Time: Towards a Consistent Theory,* Kluwer Academic, Dordrecht, 1994. chp. 6 "Quantum mechanical time".
39. "We then take any hypothesis that seems amusing, and deduce its consequences.", B. Russell, "Mathematics and the metaphysicians", chp. 5, in *Mysticism and logic and other essays*, George Allen and Unwin, 1918.
40. C.K. Raju, "Eternity and Infinity: the Western misunderstanding of Indian mathematics and its consequences for science today." *American Philosophical Association Newsletter on Asian and Asian American Philosophers and Philosophies* 14(2) (2015) pp. 27–33.
41. C.K. Raju, *Rajju Ganit*, teacher's manual, http://ckraju.net/geometry/Rajju-ganit-draft-teacher-manual.pdf.
42. C.K. Raju, *Rajju Ganit*, an alternative math text on string geometry for class 9.

❖❖❖

व्यक्तित्व

प्रो. सतीशचन्द्र मित्तल : एक बौद्धिक कर्मयोद्धा

गुंजन अग्रवाल*

राष्ट्रीय इतिहास को अपनी सशक्त लेखनी से समृद्ध करनेवाले लब्धप्रतिष्ठ इतिहासविद्, ओजस्वी वक्ता प्रो. सतीशचन्द्र मित्तल नहीं रहे। गोरखनाथ मन्दिर में गत 13 सितम्बर को आयोजित एक कार्यक्रम में मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ की उपस्थिति में हुआ मित्तल जी का उद्बोधन, उनका अन्तिम उद्बोधन सिद्ध हुआ। किसी ने यह सोचा न होगा कि बतौर मुख्य वक्ता, उन्हें ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ (1894-1969) की 125वीं जयन्ती व 50वीं पुण्यतिथि और महन्त अवेद्यनाथ की जन्मशताब्दी व 5वीं पुण्यतिथि पर आयोजित समारोह में अन्तिम बार सुनने का अवसर मिल रहा है। इस कार्यक्रम के बाद होटल के अपने कमरे में दिल का दौरा पड़ा और वहीं उन्होंने अन्तिम साँस ली। अस्सी वर्षीय मित्तल जी, अन्तिम समय तक एक युवा इतिहासकार के समान ऊर्जा से सम्पन्न थे। उनके जाने से राष्ट्रीय इतिहासलेखन के क्षेत्र में अपरिमित क्षति हुई है।

आधुनिक भारतीय इतिहास के ज्ञाता श्री सतीशचन्द्र मित्तल का जन्म उत्तरप्रदेश के मुज़फ्फरनगर ज़िलांतर्गत कांधला कस्बे में दिनांक 01 जनवरी, 1938 को हुआ था। उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर (इतिहास), पंजाब विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर (राजनीतिविज्ञान) एवं कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से 'फ्रीडम मूवमेंट इन पंजाब : 1905-1929' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की थी। कुछ वर्षों तक आर.के.एस.डी. महाविद्यालय (कैथल) में अध्यापन कार्य करने के पश्चात् कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग में प्राध्यापक के पद से नियुक्ति हुई। यहीं उन्होंने आधुनिक भारत के इतिहास के प्राध्यापक के रूप में ख्याति अर्जित की और सेवानिवृत्त हुए। उन्होंने

* लेखक जाने-माने इतिहासविद् और वरिष्ठ पत्रकार हैं, सम्प्रति महामना मालवीय मिशन, दिल्ली में शोध-सहायक के पद पर कार्यरत हैं।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के कुलपति का पद इसलिए ठुकरा दिया था ताकि इतिहास के लेखन और अनुसन्धान में बाधा न पड़े। मित्तल जी आधुनिक भारतीय और विश्व इतिहास के अधिकारी विद्वान् थे, किन्तु प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास पर भी इनकी गहरी पकड़ थी।

मित्तल जी 1997-2003 तक 'भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्' के फेलो रहे तथा 'इण्डियन हिस्टॉरिकल रिकार्ड्स कमीशन' से भी सम्बद्ध रहे। राष्ट्रवादी इतिहासकारों के एक सम्मानित संगठन और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अंतर्गत 'अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना' के वह संस्थापक-सदस्यों में थे और वर्ष 2010 से मृत्युपर्यंत इसके राष्ट्रीय अध्यक्ष के पद को सुशोभित कर रहे थे। इनके कार्यकाल में 'योजना' का कार्य द्रुत गति से आगे बढ़ा।

श्रीरामजन्मभूमि आन्दोलन में न्यायालय में साक्षी देने का प्रश्न हो या डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर (1919-1988) के साथ सरस्वती नदी के मार्ग के अन्वेषण का– सभी कार्यों में मित्तल जी ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। श्रीरामजन्मभूमि से सम्बन्धित हज़ारों तथ्य उन्हें कण्ठस्थ थे। उनकी विलक्षण स्मरण-शक्ति से न्यायाधीश भी चकित हो जाते थे।

भारतीय-राष्ट्रीय आन्दोलन, इतिहासशास्त्र एवं प्रादेशिक अध्ययन की विशेषज्ञतावाले प्रो. मित्तल ने अंग्रेज़ी तथा हिंदी में आधुनिक इतिहास पर पचास से अधिक पुस्तकें लिखकर इतिहास-जगत् को समृद्ध किया। उनकी अधिकांश पुस्तकें ब्रिटिश भारत के कालखण्ड पर हैं। 1857 के स्वाधीनता संग्राम का उन्होंने गहन अध्ययन करके अनेक पुस्तकें लिखी थीं। 2011 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'काँग्रेस : अंग्रेज़भक्ति से राजसत्ता तक' भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के दस्तावेजों की गहन छानबीन करके लिखी गई थी। भारतीय संविधान का भी इन्होंने गहन अध्ययन करके एक पुस्तक लिखी थी।

मित्तल जी वर्ष 2011 से वह लेखन-कार्य में अधिक सक्रिय हुए थे और तब से प्रत्येक वर्ष उनकी एक पुस्तक प्रकाशित हो रही थी। इनकी प्रमुख पुस्तकों का विवरण इस प्रकार है : 'फ्रीडम मूवमेंट इन पंजाब : 1905-'29' (1977), 'सोर्सेस ऑन नेशनल मूवमेंट : प्रोटेस्ट्स, डिस्टर्बेंस एण्ड डेफियेन्स : जनवरी 1919 टू सेप्टेम्बर 1920' (1985), 'हरियाणा : अ हिस्टॉरिकल प्रस्पैक्टिव' (1886), 'सेलेक्ट एन्नोटेड बिबलियोग्राफी ऑन फ्रीडम मूवमेंट इन इण्डिया : पंजाब एण्ड हरियाणा' (1992), 'इण्डिया डिस्टर्टेड : अ स्टडी ऑफ़ ब्रिटिश हिस्टॉरियंस ऑन इण्डिया' (3 वॉल्यूम्स) (1996), 'भारत का सामाजिक-आर्थिक इतिहास', 'विश्व की साम्राज्यवादी साम्यवाद का उत्थान तथा पतन', 'साम्यवाद का सच' (2009), 'भारत के राष्ट्र-चिन्तकों का वैचारिक दर्शन तथा इतिहास-दृष्टि', 'आधुनिक भारतीय इतिहास की प्रमुख भ्रांतियाँ', '1857 का स्वातन्त्र्य समर : एक पुनरावलोकन', 'मुस्लिम-शासक तथा भारतीय-जनसमाज' (2007), 'अविस्मरणीय विजयनगर-साम्राज्य एवं महाराजा कृष्णदेवराय' (2009), '1857 : वनवासी-नेतृत्व' (2009), 'क्या पंजाब अंग्रेज़ों के प्रति वफ़ादार रहा?' (2007), 'ब्रिटिश इतिहासकार तथा भारत' (2010), 'काँग्रेस : अंग्रेज़भक्ति से राजसत्ता तक' (2011), 'स्वामी विवेकानन्द की इतिहास-हष्टि' (2012), 'राष्ट्रीय चैतन्य के प्रकाश में भारत का स्वाधीनता संघर्ष' (2012), 'राष्ट्रीय चैतन्य के प्रकाश में भारत में राष्ट्रीयता : प्रारम्भ से मुस्लिम-काल तक' (2013), 'हिंदुत्व से प्रेरित विदेशी महिलाएँ' (2014), 1857 की महान् क्रान्ति का विश्व पर प्रभाव' (2015), 'भारतीय नारी : अतीत से वर्तमान तक' (2015), 'संविधान, सेक्युलरिज़्म और कन्वर्ज़न' (2016), 'ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भटकाव के 67 वर्ष : कुछ मुद्दे : 1947 से 2014 तक' (2016) इत्यादि। इनकी कुछ पुस्तकों का अनुवाद हिंदी, अंग्रेज़ी, कन्नड़ तथा गुजराती में भी हुआ। वाजपेयी जी के प्रधानमंत्रित्व काल में जब डॉ. मुरलीमनोहर जोशी, केन्द्रीय मानव

संसाधन विकास मंत्री बनाए गए थे, उस समय डॉ. मित्तल से एनसीईआरटी के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तकें तैयार करवाई गई थीं। देश की अनेक प्रतिष्ठित शोध-पत्रिकाओं में अंग्रेज़ी एवं हिंदी में उनके तीन सौ से अधिक शोध-आलेख प्रकाशित हुए थे।

भारतीय इतिहास को अपने शोधों से समृद्ध करनेवाले मित्तल जी को 19 जनवरी, 2014 को बाबा साहिब आपटे स्मारक समिति ने '16वाँ डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर सम्मान' प्रदान किया। उसी वर्ष उन्हें बड़ाबाज़ार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता द्वारा '25वाँ डॉ. हेडगेवार प्रज्ञा सम्मान' दिया गया था। यह एक विडम्बना ही है कि शासन द्वारा उनको उचित सम्मान नहीं दिया गया।

मित्तल जी अत्यन्त सरल, सहज स्वभाववाले, सबको सम्मान और स्नेह देनेवाले विद्वान् थे। विनम्रता की तो वह प्रतिमूर्ति थे। अहंकार उनको छू तक नहीं गया था। युवा लेखकों और इतिहासकारों को वह सदैव प्रोत्साहित करते थे। किसी कनिष्ठ से कोई उपयोगी सामग्री प्राप्त होने पर उसको श्रेय देना नहीं भूलते थे। उनसे पत्राचार करनेवाले लोग जानते हैं कि वह प्रत्येक चिट्ठी और ई-मेल का उत्तर अवश्य देते थे। इन पंक्तियों के लेखक को प्रारम्भ से ही उनका पुत्रवत् स्नेह प्राप्त हुआ था। उनके दर्जनों पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं। वर्ष 2014 में प्रकाशित मेरी पुस्तक 'महाराजा हेमचन्द्र विक्रमादित्य : एक विस्मृत अग्रदूत' की विस्तृत 'भूमिका', मित्तल जी ने कुछ ही घंटों में लिखकर मुझे ई-मेल से भेज दी थी। उसके विमोचन-समारोह में भी वह उपस्थित थे। दूरभाष पर उनसे कितनी ही वार्ता होती थी। कितने ही संस्मरण मेरे स्मृति-पटल पर तैर रहे हैं।

मित्तल जी के चले जाने से संघ परिवार को बौद्धिक सम्बल प्रदान करनेवाले योद्धा इतिहासकार की कमी अवश्य खलेगी। परमपिता परमेश्वर उनको अपने दिव्य लोक में स्थान दें।

❖❖❖

पुस्तक-समीक्षा

शिक्षा के औपनिवेशिक आख्यान को समझाती पुस्तक

अमनदीप वसिष्ठ*

भारतीय शिक्षा, भारतीय समाज से विच्छिन्न परिघटना नहीं है। शिक्षा समाज के लिए और समाज के भीतर ही होती है। अतः भारतीय शिक्षा के स्वरूप को भारतीय समाज के स्वरूप से पृथक् करके नहीं देखना चाहिये। भारतीय शिक्षा-पद्धति के सिलसिले में आधुनिक चिन्तनधाराओं द्वारा की जानेवाली आलोचना दरअसल उस वक़्त के भारतीय समाज में मौजूद स्तरीकरण के प्रभावों की आलोचना है। जब कोई यह कहे कि अमुक वर्ग को शिक्षा का अधिकार नहीं था, तो वह एक ढंग से शिक्षा पर नहीं वरन् उस वर्ग की सामाजिक हैसियत पर टिप्पणी करता है। अब क्योंकि पिछले सवा सौ बरस में भारतीय समाज में जातिभेद को लेकर इतना आलोचनात्मक विमर्श हुआ है, सो उस विमर्श से पैदा हुई दृष्टि ने परम्परागत शिक्षा-सम्बन्धी मूल्यांकन को भी प्रभावित किया ही। बिना घुमाये-फिराए कहा जाए, तो इस आलोचना का केन्द्रीय तत्त्व यह है कि जातिभेद से ग्रसित समाज में समतामूलक शिक्षा हो ही नहीं सकती थी। उनके अनुसार एकलव्य से लेकर स्त्री-शूद्र को वेद न पढ़ाये जाने के किस्सों तक भारतीय शिक्षा का आख्यान सामाजिक भेदभाव का अकादमिक संस्करणमात्र है।

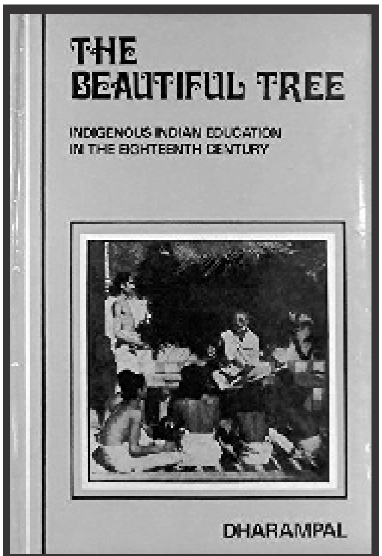

पुस्तक-नाम : द ब्यूटीफुल ट्र : इण्डीजीनॉस इण्डियन एडुकेशन इन द एटीन्थ सेंचुरी

लेखक : धर्मपाल

प्रकाशक : बिब्लिया इम्पैक्स (प्रथम संस्करण : 1983); कीर्ति पब्लिशिंग हाउस (द्वितीय संस्करण, 1995)

कुल पृष्ठ : 435

ऐसा नहीं है कि पिछली शती में आयी इस आलोचना ने हमें प्रभावित ही न किया हो। हममें से कमोबेश सभी इस आलोचना से जूझते रहे हैं। कुछ विद्वान् पूरी तरह इसे स्वीकार कर भारतीयता के विचार

---

* लेखक विज्ञान-शिक्षक और भारतीय ज्ञान-परम्परा के अध्येता हैं।

को ही निरस्त कर बैठे। कुछ इस विषय में मौन धारण कर गए और कुछ ने इस आलोचना को विदेशी प्रभावमिश्रित कहकर विचारयोग्य ही न माना। भारतीय परम्परा में जातिभेदमूलक भेदभाव के नैरेटिव ने सर्वाधिक ज़ोर स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान पकड़ा जब गाँधी-आम्बेडकर बहस हुई। दक्षिण में पेरियार सरीखे विचारकों के प्रभाव में उभरे आंदोलन ने ग़ैर-ब्राह्मण अस्मिता का निर्माण शुरू किया। इनसे पहले ये बीज फुळे के चिन्तन में भी ढूँढे जा सकते हैं। ये सब धाराएँ एक जैसी नहीं थीं। इनके बीच में कुछ सूक्ष्म भेद अवश्य थे, लेकिन ये अभी एक बात पर सहमत थीं और वह यह कि भारतीय समाज अपने मूलाधारों में अन्यायपूर्ण स्तरीकरण पर आधारित है और इसलिए पूर्ण ध्वंस द्वारा पुनर्रचना योग्य है।

इन सभी आलोचनाओं से उस दौर के विचारक अपने अपने ढंग से निपट रहे थे। उत्तर से लेकर दक्षिण तक उथल-पुथल जारी थी। इन सबके बीच गाँधीजी ऐसे चिन्तक के रूप में उभरे जिन्होंने 'सम्पूर्ण ध्वंस' के विचार को स्वीकार नहीं किया। ध्यान रहे कि पश्चिम से आयी 'क्रान्ति की अवधारणा' में एक बिंदु यह भी था कि 'नवीन' की रचना के लिए 'पुरातन' को विदा करना पड़ता है। और वह पुरातन 'ध्वंस' के रास्ते सबसे तेजी से जाता है। इस विचार में गज़ब का सम्मोहन था और बहुत से लोग इसकी गिरफ़्त में आये भी [और आज भी हैं] लेकिन गाँधीजी के अनुसार हमें देश-काल के अनुसार जहाँ आवश्यक हो वहाँ अपेक्षित सुधार तो करने होते हैं, लेकिन 'सम्पूर्ण ध्वंस'-जैसी अवधारणाओं से कुछ ज़्यादा नहीं निकलता। इस बात को बहुत ध्यान से देखने की आवश्यकता है कि जो प्रगति है वह परम्परा के ध्वंस से नहीं आती। वह परम्परा के भीतर से ही आती है। परम्परा का विपरीत-विचार 'आधुनिकता' है, प्रगति नहीं। इसलिए गाँधीजी परम्पराभंजक नहीं बनते। वह विरोध करते हैं तो आयातित आधुनिकता का। 'हिंद स्वराज' उसी यान्त्रिक आधुनिकता की आलोचना का दस्तावेज है। सबसे दिलचस्प बात यह है कि उस 'हिंद स्वराज' को रूपाकार देने के औजार टॉलस्टॉय-रस्किन-थोरो-सरीखे पश्चिमी विचारकों से आये, जो पश्चिम के होते हुए भी उस आधुनिकता को स्वीकारने से इनकार करते हैं जो इधर भारत में भी लादी गयी। गाँधीजी जब दक्षिण में गए, तो वहाँ के कुछ जिज्ञासुओं ने 'ग़ैर-ब्राह्मण' अस्मिता आन्दोलन के बहाने उन्हें कुरेदना चाहा, लेकिन गाँधीजी ने एक बार भी किसी एक जाति-वर्ण विशेष के विरुद्ध कोई विचार प्रकट नहीं किया। गाँधीजी का समाज के घटकों के प्रति यह संतुलन-भाव ही उन्हें भारतीय शिक्षा के परम्परागत ढाँचों के प्रति ज़ल्दबाजीभरी आलोचना से बचाता है। वे 'नयी तालीम की बात तो करते हैं, लेकिन वह 'नयापन' पुरातन के आधार से ही निर्मित है। गाँधीजी ज़रूर यह देखते रहे होंगे कि भारतीय समाज में मौजूद लोकगीतों-संस्कारों-कलाओं और विश्वासों में यह जो अद्भुत ठहरावभरा प्रशांत भाव है, उसका कोई आधार तो होगा! ऐसा कैसे सम्भव है कि अपने सामूहिक अवचेतन में द्वंद्व और टकरावों से भरा समाज इतने लम्बे समय तक न सिर्फ़ टिक पाए बल्कि वहाँ के साधारण ग्रामीण शिल्पी-कलाकार सदियों तक उच्च कोटि का कला-सृजन भी करते रहे। ऐसा कैसे सम्भव है कि संत-परम्परा के भीतर नाथपंथी निर्गुणपंथी धाराओं और लोकदेवियों के स्थानों पर ग़ैर-ब्राह्मण को भी उतना ही मान-सम्मान मिल जितना दूसरे मन्दिरों में मौजूद किसी ब्राह्मण पुजारी को। भारतीय समाज की आलोचना करनेवाली धाराएँ इस बात की व्याख्या कैसे करेंगी कि एक लोकदेवी के मन्दिर में दलित पुजारी के समक्ष पूरा समाज अपना सिर श्रद्धापूर्वक कैसे झुकाता है। किसान परिवारों के व्यक्ति नाथपंथी मठों के महन्त होते हैं। निर्गुण धारा के डेरों में तो सर्वत्र ग़ैर-ब्राह्मण महन्त ही दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तर भारत में पश्चिमी उत्तरप्रदेश और हरियाणा-राजस्थान के इलाकों में सर्वखाप की सैद्धान्तिक व्याख्याओं में दलित-किसान-द्विज एक ही धरातल पर कैसे खड़े हैं!! बात कुछ ऐसी है कि भारतीय समाज में भेदभाव ढूँढ़नेवाले विद्वान् अपनी शिक़ायत को इतना दूर ले जाते हैं कि वह शिक़ायत अपना वैध तत्त्व भी खो बैठती है। अहर्निश 'साझी संस्कृति' का मंत्रजाप करनेवाले विद्वान् जातीय समस्या के समय सारा 'साझापन' भूलकर केवल

टकराव का आख्यान कैसे रचते हैं। क्या 'साझी संस्कृति' का तर्क धार्मिक झगड़ों के वक़्त इस्तेमाल किये जानेवाला महज़ ताश का एक पत्ताभर है! क्या भारत की जातियों में कोई साझापन नहीं! भारत में कई हिस्सों में शूद्र-दलित के साथ जो अनपेक्षित अन्याय हुआ उससे किसी को इंकार नहीं है। गाँधीजी का हरिजनोद्धार कार्यक्रम समाज के भीतर आई बुराइयों को समाप्त करने का ही एक प्रयास था। लेकिन समाज में आयी किसी समस्या को हम सुलझाएँ या कि पूरे समाज का ही विध्वंस करने पर तुल जाएँ।

गाँधीजी की दृष्टि समाज में आई जातीय समस्या से भागती नहीं! लेकिन वह समाज के प्रति एक स्थायी नकारात्मक दृष्टिकोण लेकर तोड़फोड़ पर उतारू भी नहीं होती। पुराने भारतीय ढाँचे में वह क्या तत्त्व थे जिनसे समाज में आये गतिरोध को दूर किया जाता। पुराने भारतीय समाज के भीतर शिक्षा इसमें क्या भूमिका अदा करती थी। वह शिक्षा ही क्या जो मात्र आजीविका कमाने के आगे हमें कोई दृष्टि न दे! हमारे समाज में द्वंद्व हैं– यह बात ठीक है। लेकिन शिक्षा उस द्वंद्व का समाधान सुझाएगी या फिर समूचे भारतीय भूतकाल के प्रति एक नकार का भाव पैदा करेगी!

इस लम्बी-चौड़ी भूमिका का उद्देश्य यही है कि हम यह समझें कि पुराने भारत में द्वंद्व के साथ साथ कुछ बेहद प्रशंसनीय आयाम भी थे। उन आयामों को खोजने का कार्य वही कर सकता था जिसके पास गाँधीजी की तरह भारत के प्रति एक गहन श्रद्धा का भाव हो। यही श्रमसाध्य काम धर्मपाल ने किया। धर्मपाल की विचारभूमि गाँधीजी की चिन्तनधारा और उस विराट् भारतीय दृष्टि पर स्थित है जो टकराव के बाद समन्वयात्मक-अंतर्भुक्ति को अपने में समेटे है।

धर्मपाल के ब्रिटिश-पूर्व भारत-सम्बन्धी कार्य से गुजरना एक विचित्र संसार में प्रवेश जैसा लगता है। इसका एक कारण तो यह कि पुराने भारत-सम्बन्धी अधिकतर व्याख्याएँ सांख्यिकीय आँकड़ों से विहीन मात्र भावुक घोषणाओं पर खड़ी रहती हैं या फिर पुराने भारत को सामाजिक अंतर्विरोधों के आधार पर कोसने में उत्सुक। यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि ब्रिटिश राज्य के आ जाने से पहले के भारत की जातीय भेद-तर्क के आधार पर अब तीव्र आलोचना की जाती है। दूसरे यह भी अक्सर सुनने को मिलता ही है कि ब्रिटिश-पूर्व भारत की वैज्ञानिक-तकनीकी उपलब्धियाँ कम ही हैं। दिलचस्प है कि 'इण्डियन ज़र्नल ऑफ़ हिस्ट्री ऑफ़ साइंस' में साल-दर-साल छपे अनेकानेक शोधपत्रों और भारत में विज्ञान-सम्बन्धी कार्यों के उल्लेख के बावजूद उस धारणा को बनाये रखनेवाले दल में उत्साह की कोई कमी न है। ठीक ऐसे ही तर्क परम्परागत भारतीय शिक्षा के बारे में भी दिए ही जाते हैं। उन सबको आज हम कैसे देखें!

धर्मपाल के चिन्तन का मूल्य पहले से अधिक अब बढ़ जाने का एक ठोस कारण है। पिछले तीस-चालीस बरस में हुई 'कोलोनियल या फिर पोस्ट-कोलोनियल स्टडीज़' ने हमें यूरोपीय ज्ञान प्रणालियों पर नये सिरे से पुनर्विचार के लिए विवश किया है। दिलचस्प है कि ब्रिटिश ज्ञान मीमांसा की आलोचना करनेवाले अधिकतर चिन्तक पश्चिम से ही आए हैं। ब्रिटिश राज्य ने किस तरह भारतीय दृष्टि और भारतीय चित्त को बदला– उन सब प्रक्रियाओं का उद्घाटन धीरे-धीरे हो रहा है। प्रो. बर्नार्ड कॉन और निकोलस डर्क्स-सरीखे विद्वानों के कार्य से हम यह समझ पाए कि किस प्रकार 'सेन्सस' यानी 'जनसंख्या-सर्वेक्षण' भारत में जाति को नया आकार देकर गये। पद्मनाभ समरेन्द्र-जैसे विचारक अपने शोधपत्र का शीर्षक ही देते हैं– 'सेन्सस इन कोलोनियल इण्डिया एण्ड बर्थ ऑफ़ कास्ट'! उनसे पूर्व सबाल्टर्न अध्ययन समूह से सम्बद्ध रहे प्रो. बर्नार्ड कॉन ने लिखा– 'द सेन्सस सोशल स्ट्रक्चर एण्ड अब्जेक्टिफिकेशन इन साउथ एशिया'! स्पष्ट है कि ये जो जनसंख्या-सर्वेक्षण थे, ये सब कोई निष्क्रिय आँकड़ा-जुटाऊ क़वायद न रहे। ये सक्रिय ढंग से भारत की पूरी सामाजिक संरचना को बदल रहे थे और

भारतीय चित्त की दृष्टि को भी बदल रहे थे। यही कारण है कि भारतीयों को ही भारत के बारे में समझना समझाना पड़ जाता है।

धर्मपाल इस सारे कार्य से पूरी तरह परिचित न भी रहे हों, लेकिन यदि वे होते तो इस सारे कार्य को देखकर उन्हें संतुष्टि होती कि उनकी दृष्टि एक तरह से सत्यापित ही हुई है।

भारतीय शिक्षा [या किसी भी भौगोलिक क्षेत्र में मौजूद शिक्षा-व्यवस्था] अपने समाज से संयुक्त रही है। शिक्षा कोई ऐसी परिघटना या प्रक्रिया तो है नहीं जो किसी द्वीप पर घटित होती हो। वह सामाजिक ढाँचे के बीचोंबीच होती है। तो ये कैसे सम्भव है कि दरकते समाज में शिक्षा बची रह जाए। यही ब्रिटिश भारत में शिक्षा के साथ हुआ। इसका पता तब चला जब पहले गाँधीजी ने संकेत रूप में और फिर धर्मपाल ने आँकड़ों के साथ बदतर होती स्थिति को व्याख्यायित किया। ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में निश्चय ही कई धाराएँ रहीं। उनसे पहले मौजूद क्रिश्चियन पादरियों के भीतर भी अलग प्रवृत्तियाँ रहीं। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि पश्चिमी विद्वानों का एक छोटा हिस्सा सचमुच गम्भीरता से भारतीय समाज और चिन्तन को समझना चाहता था। बावजूद इस बात के कि वे खुद पश्चिमी ज्ञान-परम्परा की सीमाओं से बँधे थे। लेकिन ऐसा सभी के साथ नहीं रहा। ज़्यादातर ब्रिटिश अफ़सर 'श्रेष्ठता-भाव' से भरे रहे। मैकाले ने भारतीय चिन्तन परम्परा के बारे में जो कटु शब्द कहे, उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं, लेकिन वह सब हमें इतना समझाने के लिए पर्याप्त है कि उनका श्रेष्ठताबोध उन्हें भारत को समझने ही न दे रहा था।

धर्मपाल की भाषा आरोप मढ़नेवाली भाषा नहीं है। वे जब भी ब्रिटिश शासन का उल्लेख करते हैं, तो न के बराबर व्यक्तिगत होते हैं। उनकी भाषा एक सावधानीपूर्ण प्रयोग से युक्त है। यही बात उन्हें दूसरी धाराओं से जुदा करती है। इसके मूल उनके गाँधीवादी चिन्तन में हैं। गाँधीजी सम्भवतः सबसे ताक़तवर ढंग से औपनिवेशिक ज्ञान-प्रणाली से लड़े और कभी अंग्रेज़ समुदाय को लेकर व्यक्तिगत नहीं हुए। यह बात विचार में ले लेनी चाहिए कि ब्रिटिश ज्ञान मीमांसा के दो बड़े पक्ष हैं। पहला है उनका यहाँ शासन करने का व्यावहारिक पक्ष। उनका अधिकतर अध्ययन शासन में सहूलियत के लिए रहा। मसलन कोई ब्रिटिश अफ़सर यहाँ की भाषा या शिक्षा प्रणाली का अध्ययन क्यों करे ! इसलिए कि वह स्थानीय समाज को समझे और सरलता से प्रशासन चलाये। दूसरा कारण ज़्यादा महीन और पेचीदा है। वह यह कि बड़े-से-बड़ा ब्रिटिश विद्वान् अंततः यूरोपीय दार्शनिक प्रणालियों और क्रिश्चियन धर्मशास्त्रीय ढाँचे में धँसा हुआ था। उसका कालबोध और संसार को देखने का ढंग वह था ही नहीं जो एक पौर्वात्य व्यक्ति का होता।

ब्रिटिश अधिकारी जब भी भारतीय शिक्षा-प्रणाली पर टिप्पणियाँ करते, तो उन्हें ध्यानपूर्वक देखने पर हम पाते हैं कि उनकी आलोचना 'अज़नबीपन' से लिपटी हुई है। धर्मपाल का कार्य में और बर्नार्ड कॉन द्वारा उद्धृत ब्रिटिश अफ़सरों की आलोचना या प्रशंसा कैसी है ! इस सिलसिले में धर्मपाल के शिक्षा-सम्बन्धी कार्य को बर्नार्ड कॉन के कार्य के साथ जोड़कर देखने से सम्भवतः कुछ बिंदु मिल पाएँ। धर्मपाल खुद कोई बहुत ज़्यादा 'वैल्यू जजमेंट' नहीं देते। वे केवल ब्रिटिश आँकड़ों को उद्धृत करते हुए सारणियों और रिपोर्ताज़ की मदद से हमारी धारणाओं को धीमे-धीमे तोड़ते जाते हैं। उदाहरण के लिए जब वे दक्षिण भारतीय शिक्षा-प्रणाली के भीतर शूद्र छात्रों की उपस्थिति का ज़िक्र करते हैं तो वह यह नहीं कहते कि ये सब वर्तमान जातीय विमर्श को सचेत रूप से सम्बोधित करने के लिए उद्धृत किया गया। लेकिन यह निष्कर्ष उन आँकड़ों से स्वाभाविक रूप से निकल आता है– एक बड़े महीन ढंग से। यही धर्मपाल के कार्य का सौन्दर्य है।

भारत में शिल्प की शिक्षा जाति के ढाँचे के भीतर ही थी और यह वंशानुगत तरीक़े से हस्तान्तरित होती। यह कोई इंजीनियरिंग कॉलेज़ या फिर पॉलिटेक्निक में मौजूद 'टेक्सचुअल' ढंग की

शिक्षा नहीं रही। लौहकार-स्वर्णकार-काष्ठकार से लेकर मूर्तिशिल्प तक के कार्य अधिकतर वंशानुगत रहे। ऐसा नहीं है कि उनका टेक्स्ट यानी शास्त्र था ही नहीं। शास्त्र तो था– विश्वकर्मपुराण, जिसका ज़िक्र एक जगह धर्मपाल भी करते हैं। लेकिन टेक्स्ट की भूमिका कितनी और कैसी थी, यह अभी विचार का विषय है; क्योंकि ब्रिटिश-पूर्व भारत में होनेवाली पढ़ाई के दैनन्दिन नोट्स या मिनट्स-संस्मरण हमारे पास अभी तक उपलब्ध नहीं। दरअसल ये नोट्स-मिनट्स का मामला भी औपनिवेशिक शासन के साथ ही ज़्यादा प्रचलित हुआ।

एक समस्या तो यह रही कि यूरोपीय विद्वान् भारतीय शिक्षा के उद्देश्य को समझने में बहुत कठिनाई अनुभव करते थे। उनमें से अधिकतर ये देखते थे कि भारतीय विद्यार्थी ये जो लम्बे-लम्बे सूत्र या पद्य याद करते हैं, इनके अर्थ अधिकांश नहीं समझते। फिर इस स्मरण की कसरत का अर्थ ही क्या है ! कोई-कोई ब्रिटिश विद्वान् भारतीय पण्डितों के साथ कार्य करते हुए उनके तौर-तरीक़ों से परेशान हो जाता था। यह ध्यान रखने की बात है कि बनारस के खुले संस्कृत कॉलेज़, कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज़ या दक्षिण में फोर्ट सेंट जॉर्ज़-सरीखे संस्थानों में ब्रिटिश अध्यापक और भारतीय अध्यापक लगातार संवाद में थे। चूँकि वह एक संक्रमण काल था। भारतीय परम्परागत शालाएँ या फिर अध्ययन केन्द्र हाशिये पर जा रहे थे और उनकी जगह जो नये कॉलेज़ खुले, वे धीरे-धीरे अध्ययन का केन्द्र बनते गए। इन नये अध्ययन-केन्द्रों का पाठ्यक्रम, ख़ासकर भाषाओं का पाठ्यक्रम कौन तय कर रहा था। उनके विशेषज्ञ कौन थे ! धर्मपाल इन प्रश्नों में बहुत नहीं गए। ये उनका कार्य था भी नहीं। लेकिन बाद में पैदा हुए विमर्श ने इन सब प्रश्नों से निपटने की एक हद तक कोशिश की है। भारतीय पण्डित या मौलवी ब्रिटिश विद्वानों के लिए सूचनाप्रदायक मात्र थे। कौन-सी सूचना किस ढंग से पुस्तक में शामिल हो, यह निर्णय तो अंततः ब्रिटिश विद्वान् को ही करना होता। इस मामले में मुस्लिम विद्वानों की स्थिति हिंदू-विद्वानों से बेहतर नहीं थी। मसलन मैथ्यू लमस्डेन ने फ़ारसी व्याकरण की पुस्तक के आरम्भ में लखनऊ के मौलवी अल्लाह दाऊद का आभार व्यक्त किया है कि उन्हें अधिकतर सूचनाएँ दाऊद साहिब से मिलीं। लेकिन इन सूचनाओं का ढाँचा तय करने का विशेषाधिकार तो लमस्डेन का ही रहा। इस मामले को धर्मपाल द्वारा उल्लिखित मालाबार में पढ़नेवाली मुस्लिम लड़कियों के आँकड़ों के साथ जोड़कर देखें। किस तरह ब्रिटिश शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ मुस्लिम छात्राओं की संख्या में गिरावट आती गयी। ब्रिटिश ज्ञान-प्रणाली के लिए हिंदू और मुस्लिम– दोनों ही सापेक्षतः पिछड़े समाजों का प्रतिनिधित्व करते थे। ब्रिटिश-पूर्व भारत में एक बात ध्यान देने लायक है और वह यह है कि इस्लामी शासक स्वयं को साभ्यतिक स्तर श्रेष्ठ सिद्ध नहीं कर पाये। चाहे लोक-दिखावे के लिए ही सही, उन्होंने खुद को हिंदू-शिक्षा के ढाँचे को नसीहत देने की स्थिति में कभी नहीं पाया। बहुत पहले आये अल-बिरूनी की आलोचना भारतीय पण्डितों के रूखे व्यवहार को लेकर रही, उनके ज्ञान और दर्शन के प्रति नहीं।

ब्रिटिश विद्वानों के साथ एक नयी स्थिति बनी। वे पुनर्जागरण काल के दार्शनिक हेगेल-कांट-डेविड ह्यूम और न्यूटन-गैलीलियो सरीखे वैज्ञानिकों के तौर-तरीक़ों से लिपटे हुए स्वयं की परम्परा को ग्रीक दर्शन तक ले जाते और उन्हें भारत की दार्शनिक प्रणालियाँ अज़ीब मालूम होतीं। भारतीय शिक्षा अपनी दार्शनिक प्रणालियों की वाहक थी। उसके मंतव्य बहुत अलग क़िस्म के थे। धर्मपाल के कार्य से गुजरते हुए जब हम भारतीय शालाओं के पाठ्यक्रम को देखते हैं, तो उसमें महाकाव्यों से लेकर व्यावहारिक विज्ञानों और फिर एकदम अमूर्त्त प्रतीत होनेवाले दर्शन मौजूद थे। एकदम देखने पर यह बात थोड़ी कम समझ आती है कि कोई पश्चिमी विद्वान् इस पर कैसे आपत्ति करेगा। शिक्षा के अनौपचारिक दिखनेवाले ढाँचे को ब्यूरोक्रेटिक ढंग के स्कूल-कॉलेज़ों से कमतर आख़िर कैसे माना गया ! !

इन सबका संकेत यही लगता है कि पश्चिम के पुनर्जागरण-उपरान्त चिन्तन में और हमारे यहाँ के चिन्तन में कुछ बुनियादी फ़र्क़ है जो शिक्षा को प्रभावित कर रहा था। उनके यहाँ की शिक्षा औद्योगिक क्रान्ति के बाद बने समाज को लक्षित थी। यूरोप खुद भी एक गहरी उथल-पुथल से गुजर रहा था और वहाँ का औद्योगिक ढाँचा यूरोप की लोक परम्पराओं को नष्ट करने में रत था। औपनिवेशिक शासन के बीज थे बाज़ार-आधारित अर्थव्यवस्था में, जिसका मूल था मण्डी और मुनाफे की तलाश। क्रिश्चियन धर्मशास्त्रियों के पास षड्दर्शन-भक्तिधारा-लोकआस्थाओं से युक्त भारत को समझाने के लिए क्या नया था? वे संवाद का मन बनाकर आये होते तो क्रिश्चियन रहस्यधाराओं और भारतीय अध्यात्म में कोई संवाद-सेतु बनता, जैसी संकल्पना रोमाँ रोलाँ ने कभी की थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि उनका पूरा मन सिखा देने का था। उसी से शिक्षा का उनका मॉडल हमारे परम्परागत मॉडल से टकरा गया। फिर सब मानो ढहता ही गया। अन्यथा यह कैसे हुआ कि भारत में जातिभेद समस्या बन गया। फिर निरक्षरता समस्या बन गयी। फिर कन्याओं का अनुपात बिगड़ता गया। साम्प्रदायिक दंगे होने लगे। यदि किसी समाज को अच्छी शिक्षा मिलने लगी थी, तो उसके परिणाम उलटे कैसे आये? गाँधीजी की 'हिंद स्वराज' उस औपनिवेशिक ज्ञानमीमांसा की आलोचना है और धर्मपाल का कार्य उस शासन से पहले के भारत की तुलनात्मक तस्वीर। धर्मपाल का कार्य इतना बड़ा है कि उसपर पृष्ठ-दर-पृष्ठ बात की जा सकती है। स्थानाभाव के चलते संकेतभर पर्याप्त होंगे।

आगामी अंकों के विषय

जनवरी–मार्च, 2020 औपनिवेशिक भारतीय शिक्षा	अप्रैल–जून, 2020 मीडिया और सभ्यतामूलक विमर्श
• स्वाधीनता संग्राम और राष्ट्रवादी शिक्षा आन्दोलन • भारत में गैर-औपनिवेशिक शिक्षा की स्थापना की चुनौतियाँ • शिक्षा के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता • शिक्षा, कौशल विकास और प्रशिक्षण • नैतिक शिक्षा की आवश्यकता और महत्त्व • विज्ञान-शिक्षण और भारतीयता • सामाजिक विज्ञान शिक्षण का औपनिवेशिक आख्यान • ग़ैर-औपनिवेशिक भूगोल-दृष्टि • ज्योतिष : एक ग़ैर-औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य	• मीडिया नैतिकता का भारतीय परिप्रेक्ष्य • संचार की भारतीय अवधारणा • भारतीय संचारक और उनकी अवधारणाएँ क) नारद मुनि ख) भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ग) अभिनवगुप्त के संचार सिद्धान्त • सभ्यतागत संघर्ष और भारतीय मीडिया • संचार व्यवस्था और मन्दिर • सिनेमाई संचार और भारतीयता • सोशल मीडिया : प्रभाव, सीमाएँ और सावधानियाँ • संचार, शासन और लोकतंत्र • संचार-माध्यम और राष्ट्रीय भावना

भोजन के विज्ञान से अनभिज्ञ विज्ञान की पुस्तक

रवि शंकर

इस अंक में हम एनसीईआरटी की कक्षा छह की विज्ञान की पुस्तक के पहले दो अध्यायों की समीक्षा करेंगे। ये दोनों ही अध्याय भोजन से सम्बन्धित हैं। पहला अध्याय है भोजन कहाँ से आता है और दूसरा अध्याय है भोजन के घटक। हमें यह ध्यान रखना है कि यह पुस्तक कक्षा छह के यानी लगभग 10-11 वर्ष के बच्चों के लिए लिखी गई है। इस विशेष मनोभूमि को ध्यान में रखकर हम इसकी समीक्षा करेंगे। भारतवर्ष में 10-11 वर्ष का बच्चा भोजन के बारे में न केवल बहुत कुछ जानता है, बल्कि उसकी इसमें रुचि-अरुचि भी विकसित हो चुकी होती है। बच्चे स्वाद तो लगभग एक-डेढ़ वर्ष में ही पहचानने लगते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि भोजन कहाँ से आता है, के प्रश्न से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि भोजन हम क्यों करते हैं। इन अध्यायों में भोजन करने के उद्देश्य को नहीं बताया गया है। समवतः लेखकों ने इसे आवश्यक नहीं माना। परन्तु बच्चों को यह बताया जाना आवश्यक है। किसी भी काम के उद्देश्य से यह तय होता है कि उसे कैसे किया जाए। इसलिए इन अध्यायों के लेखन के उद्देश्य को यदि हम ध्यान में रखेंगे, तो इनके लेखन की दिशा को निश्चित करना सरल होगा। इसलिए लेखकों को इस पर विचार करना चाहिए कि आख़िर हम बच्चों को भोजन के बारे में क्यों बताना चाहते हैं। इस प्रश्न के उत्तर पर हम आगे विचार करेंगे। उस पर विचार करने से पहले विज्ञान के सिद्धान्त पक्ष पर कुछ विचार करते हैं।

पहला प्रश्न है कि विज्ञान क्या है और इसके उद्देश्य क्या हैं? सरल शब्दों में कहा जाए, तो किसी भी विषय के विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। भोजन के बारे में विशेष ज्ञान भोजनविज्ञान है। परन्तु भारतीय परिभाषा के अनुसार इन सभी को केवल ज्ञान ही माना गया है, विज्ञान नहीं। भारतीय परिभाषा में आत्मतत्त्व के ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार भी विज्ञान के दो उद्देश्य हैं। पहला, किसी भी वस्तु तथा प्राकृतिक नियमों के बारे में सम्यक् जानकारी और दूसरा, मानव जीवन का उत्थान। इन दो उद्देश्यों के लिए ही विज्ञान का अध्ययन किया जाता है। विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ करते समय हमें विज्ञान-अध्ययन की प्रक्रियागत दो और बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहली बात है कि विज्ञान प्रत्यक्ष और प्रायोगिक होना चाहिए। विज्ञान की परोक्ष दिखनेवाली बातें भी किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष अवलोकनों पर ही आधारित होती हैं और होनी ही चाहिए। परोक्ष के प्रत्यक्ष अवलोकन को ही प्रयोग कहते हैं। आवश्यक है कि बच्चों को इसकी विधि भी सिखाई जाए। ध्यान में रखनेवाली दूसरी बात यह है कि भारत में विज्ञान की एक लम्बी और सुदृढ़ परम्परा रही है। इसका ज्ञान शिक्षकों को भी होना चाहिए। तभी वह जो पढ़ा रहा है, उसका सामञ्जस्य लोक में प्रचलित विज्ञान से बैठा पाएगा। लोक-विज्ञान से सामञ्जस्य होने पर बच्चों को विज्ञान पढ़ाना और समझाना सरल और सहज हो जाएगा। समस्या यह है कि इस पुस्तक के लेखकों में भारतीय विज्ञान-परम्परा के एक भी विद्वान् को शामिल नहीं किया गया है।

यदि इस पुस्तक के लेखकों में दो-तीन आयुर्वेद के विशेषज्ञ वैद्यों तथा विज्ञान पर काम करनेवाले संस्कृत के आचार्यों को शामिल किया जाता, तो यह पुस्तक अधिक उपयोगी बन सकती थी।

विज्ञान की इस परिभाषा, उसके इन दो उद्देश्यों और उसकी प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि इन दो अध्यायों में विज्ञान कितना है और उसके उद्देश्य की कितनी पूर्ति सम्भव हो पाई है। इसलिए पहले हम यह देखते हैं कि इन दो अध्यायों में यह पुस्तक बच्चों को क्या बताने का प्रयास कर रही है। पहले अध्याय में दो बातों की जानकारी दी गई है–1. भोजन के स्रोतों और 2. भोजन के आधार पर जीवों का वर्गीकरण। इन पुस्तकों के लेखन की एक अच्छी बात यह है कि प्रारम्भ में ही बच्चों के लिए क्रियाकलाप यानी प्रयोग बताए गए हैं। इससे बच्चों में उत्सुकता और प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति का विकास होगा। पहले अध्याय के प्रारम्भ में विभिन्न प्रकार के भोजनों की जानकारी दी गई है। तैयार भोजनों में प्रयुक्त कच्ची सामग्री का विवरण दिया गया है और बच्चों का उस ओर ध्यान दिलाया गया है कि तैयार भोजन की सामग्री भी किन्हीं स्रोतों से ही आती है। इसी क्रम में मांस और अण्डे आदि का भी उल्लेख किया गया है और भोजन के स्रोतों को पादप वर्ग और जंतु वर्ग– दो भागों में बाँटा गया है। इसके बाद भोजन के रूप में पौधे के भागों और जन्तु-उत्पादों की जानकारी दी गई है। इस भाग का अंग्रेज़ी शीर्षक अधिक उपयुक्त है– 'फूड मैटेरियल्स एंड सोर्सेस'। इसका हिंदी-अनुवाद : 'भोजन के रूप में पौधे के भाग और जन्तु-उत्पाद' थोड़ा क्लिष्ट है। इसे सीधे-सीधे 'खाद्य सामग्रियाँ और उनके स्रोत' के रूप में लिखा जा सकता था। इसके बाद पशुओं के भोजन के बारे में बताया गया है। भोजन के आधार पर पशुओं के तीन भेद भी बताए गए हैं– शाकाहारी, मांसाहारी और सर्वाहारी। इस अध्याय के अंत में बच्चों को विश्व की खाद्य-समस्या पर विचार करने के लिए प्रेरित किया गया है। दुनिया में बहुत-से लोगों को भोजन उपलब्ध नहीं है। उन्हें भोजन उपलब्ध करवाने के उपायों पर विचार करने के लिए कहा गया है। इस अध्याय का सारांश जो अंत में दिया गया है, यहाँ देना समीचीन होगा। 'सारांश' शीर्षक के अंतर्गत वहाँ लिखा है–

- भारत के विभिन्न प्रदेशों में खाए जानेवाले भोजन में बहुत अधिक विविधता है।
- हमारे भोजन के मुख्य स्रोत पौधे तथा जंतु हैं।
- जो जंतु केवल पादप खाते हैं, उन्हें शाकाहारी कहते हैं।
- जो जंतु केवल जंतुओं को खाते हैं, उन्हें मांसाहारी कहते हैं।
- जो जंतु पादप तथा दूसरे प्राणी– दोनों को ही खाते हैं, उन्हें सर्वाहारी कहते हैं।[1]

जैसा कि इससे पहले की समीक्षाओं में कहा जा चुका है, एनसीईआरटी की इन पुस्तकों में दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 1. पुस्तकें इतनी शुष्क और निरपेक्ष भाव से लिखी गई हैं कि इनमें भावशून्यता-जैसी स्थिति आ गई है। बच्चों के लिए लिखी गई पुस्तकें भावपूर्ण होनी चाहिए। 2. पुस्तकों में प्राचीन भारतीय विद्वानों और मतों का कोई स्थान नहीं दिखता। ये पुस्तकें केवल यूरोपीय ज्ञान को ही प्रस्तुत करती हैं। एक प्रकार से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय बच्चों को यूरोपीय बनाने का प्रयास किया जा रहा है, ज्ञानवान् तथा विज्ञानवान् बनाने का नहीं। इसलिए यह पुस्तक भोजन के महत्त्व पर बच्चों को कुछ नहीं बताती है। पुस्तक अचानक से प्रारम्भ हो जाती है कि भोजन कहाँ से आता है। 10-11 वर्ष के बच्चों को भोजन का महत्त्व बताना आवश्यक होता है। यह वह आयु है, जिसमें बच्चों में भटकाव आने की पूरी सम्भावनाएँ होती हैं। इसलिए उन्हें भोजन कहाँ से आता है, से पहले यह बताना आवश्यक है कि **हम भोजन क्यों करते हैं**। भारतीय मत भोजन को स्वास्थ्य की रक्षा और शरीर के पोषण के लिए आवश्यक मानता है। इसके लिए उपनिषदों में श्वेतकेतु की एक कथा आती है।[2] जैसा कि पहले कहा जा

चुका है कि इतिहास हो या फिर विज्ञान, बच्चों को हरेक विषय कहानियों के माध्यम से बताना अधिक सरल है। इस कथा के द्वारा भोजन के महत्त्व को सरलता से बच्चों को बताया जा सकता है। उपनिषद् ज्ञान-विज्ञान के ग्रंथ हैं, ईश्वरोपासना के नहीं। भोजन शरीर और स्वास्थ्य की रक्षा के लिए है और इसलिए कैसा भोजन किया जाना चाहिए, बच्चों को यह बताया जाना आवश्यक है। भोजन के इस महत्त्व पर छांदग्योपनिषद् और तैत्तिरियोपनिषद् में काफ़ी विस्तार से वर्णन है। उसे इन अध्यायों में शामिल किया जाना चाहिए था। इसके अलावा भारत में हज़ारों-लाखों वर्षों से आयुर्वेद की शिक्षा और परम्परा रही है। आयुर्वेद में भोजन के विज्ञान का जो वर्णन है, वह अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। भोजन के उस आयुर्वेदीय विज्ञान से भी यह पुस्तक अनभिज्ञ और अपरिचित दिखती है। आयुर्वेद में एक कहावत आती है। उसमें वाग्भट्ट एक प्रश्न पूछते हैं– **कोऽरूक, कोऽरूक, कोऽरूक** यानी कौन स्वस्थ है, कौन स्वस्थ है, कौन स्वस्थ है। इसका उत्तर दिया जाता है– **हितभुक्, मितभुक्, ऋतभुक्** यानी जो शरीर के लिए हितकारी भोजन करता है, जो भूख से कम भोजन करता है और जो अच्छी कमाई से प्राप्त भोजन करता है, वही सुखी है। यह कहावत बच्चों को न केवल स्वास्थ्यवर्धक खाद्य-पदार्थों को ही खाने की शिक्षा देगी, बल्कि इससे उन्हें सही तरीक़े से धनोपार्जन करने की भी प्रेरणा मिलेगी, जिसका कि वर्तमान शिक्षा में सम्पूर्ण अभाव है।

भोजन के प्रकार केवल शाकाहार और मांसाहार ही नहीं होते। 10-11 वर्ष का बच्चा तो इस बात से पहले से परिचित होता है कि मांसादि भी लोग खाते हैं। बताने की आवश्यकता तो यह है कि किस भोजन को खाने से क्या लाभ-हानि है। कौन-सा भोजन हमारे शरीर के लिए क्या कार्य करता है? आख़िर भोजन का विज्ञान तो यही होगा न! यह बताने के लिए भोजन का इस प्रकार का विभाजन करना उपयोगी नहीं है और न ही यह बच्चों को किसी प्रकार से शिक्षित करता है। उदाहरण के लिए इसी पुस्तक के अंग्रेज़ी-संस्करण में कुत्तों को सर्वाहारी बताया गया है, जो पूर्णतः ग़लत है। कुत्ते को यदि स्वतंत्र छोड़ दिया जाए, तो वह कभी भी फल, सब्जी और अन्न आदि नहीं खाता। वह शुद्ध रूप से मांस ही खाता है। यदि हम पालतू कुत्ते द्वारा रोटी आदि खाने के कारण उसे सर्वाहारी कह दें, तो इस प्रकार तो यूरोप में गायों को भी मांस को पीसकर भूसे में मिलाकर खिला दिया गया था। परंतु इससे गाएँ मांसाहारी नहीं हो जातीं। इसी प्रकार बंदरों को कीड़े खाते देखा जा सकता है, परन्तु इससे वे सर्वाहारी नहीं हो जाते। वास्तव में भोजन के आधार पर जानवरों के वर्गीकरण की जानकारी का भी कोई लाभ बच्चों को नहीं है। उपयोगिता के अनुसार जानवरों के बारे में जानकारी ही उनके लिए लाभकारी है। इसलिए इस अध्याय में शाकाहारी और मांसाहारी पशुओं का वर्णन न केवल अनावश्यक है, बल्कि अनुपयोगी भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि पशुओं का प्रकरण केवल शाकाहारी, मांसाहारी और सर्वाहारी के वर्गीकरण को समझाने के लिए लिया गया है।

इसके बजाय भोजन के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकारों का ज्ञान अधिक उपयोगी और लाभप्रद है। भोजन का यह वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक, तार्किक तथा लाभकारी है। यह ठीक है कि भोजन में हम कुछ भी खा सकते हैं, परंतु भोजन का शरीर और मन पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है। कहा गया है– **आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।**[3] शुद्ध आहार से शरीर का सत्त्व शुद्ध होता है, सत्त्व के शुद्ध होने से स्मृति स्थिर होती है। यह भी कहा गया है कि जैसा अन्न हम खाते हैं, हमारा मन भी वैसा ही बनता है। यहाँ अन्न से अभिप्राय भोजन ही है। इसलिए भोजन की शुद्धता की शिक्षा अधिक आवश्यक है। मनुष्य के शरीर और मन पर किस भोजन का क्या प्रभाव पड़ता है, यह जानना निश्चित रूप से बच्चों के लिए लाभकारी होगा। इसे जानने से बच्चों को अपने लिए हितकारी भोजन चुनने में सहायता

मिलेगी और वह स्वस्थ शरीर और मन का बन सकेगा, जो शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य है।

इसलिए भोजन के स्रोतों में सामान्यतया पादप जगत् से मिलनेवाले पदार्थों, यानी जड़, तना, पत्ते, फूल, फल तथा बीजों और पशु-उत्पादों में दूध, दही, मक्खन, शहद आदि तक ही सीमित रहना उचित है। यहाँ यह जानकारी बच्चों को अवश्य दी जा सकती है कि जहाँ खेती करने योग्य वातावरण या भूमि नहीं है और जहाँ फल-फूल, सब्जी आदि उपलब्ध नहीं होते, वहाँ लोग मांस खाकर भी जीवन निर्वाह करते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-से लोग स्वाद के लिए भी मांसाहार करते हैं। कुल मिलाकर मांस को भोजन के वैकल्पिक स्रोत के रूप में पढ़ाया जाना ही उचित है। वह मनुष्य के भोजन का प्रधान स्रोत नहीं है। मांसाहार पर अधिक चर्चा करने के बजाय भोजन के विभिन्न अवयवों यानी अन्न, सब्जी एवं फल, मसाले, तिलहन और शाक आदि की जानकारी दी जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त मौसम और भोजन के सम्बन्ध को बताया जाना भी अच्छा होता। आयुर्वेद में ऋतुचर्या का विस्तृत वर्णन किया गया है। किस मौसम में क्या खाना चाहिए और क्या नहीं, यह जानकारी स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत लाभकारी है और विज्ञान की दृष्टि से भी। उदाहरण के लिए गर्मियों में खीरा, तरबूज आदि का सेवन करना अच्छा होता है, परन्तु ठण्ढ के दिनों में गुड़, मूंगफली आदि का। बच्चों से विभिन्न मौसमों में मिलनेवाले खाद्य-पदार्थों की तालिका बनाने के लिए कहा जा सकता है जो उनके लिए न केवल मज़ेदार होगा, बल्कि उपयोगी भी। इसके साथ ही बच्चों को किस मौसम में क्या नहीं खाना चाहिए, इसकी भी जानकारी दी जा सकती है। इसके लिए घाघ आदि प्राचीन भारतीय कवियों की कहावतें भी उन्हें स्मरण करवाई जा सकती हैं। ऐसा एक दोहा इस प्रकार है–

चैते गुड़ बैसाखे तेल, जेठे पन्थ असाढ़े बेल।
सावन साग न भादों दही, क्वार करेला न कातिक मही॥
अगहन जीरा पूसे धना, माघे मिश्री फागुन चना।
ई बारह जो देय बचाय, वहि घर बैद कबौं न जाय॥

ऐसे अनेक दोहे समाज में प्रचलित हैं, जो बच्चों को रुचिकर भी लगेंगे और ज्ञानवर्धक भी होंगे और इससे उनके स्वास्थ्य का रक्षण भी होगा। इसके पीछे के विज्ञान को भी संक्षेप में समझाया जाना उचित होगा। इसी सन्दर्भ में बच्चों को यह भी बताया जा सकता है कि भारत कितने जलवायु-क्षेत्रों में बँटा हुआ है और उसके अनुसार लोगों के खान-पान के पदार्थों में कितनी विविधता है। इस विविधता के कारणों और विज्ञान को जानना भी उनके लिए रुचिकर और ज्ञानवर्धक होगा।

दूसरा अध्याय भोजन के घटकों का है। इसमें आधुनिक विज्ञान द्वारा भोजन के विभिन्न घटकों– कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा, विटामिन और खनिज-लवण– के बारे में जानकारी दी गई है। इनकी पहचान का तरीक़ा और प्रयोग बताए गए हैं और इनकी कमी से होनेवाले रोगों की चर्चा की गई है। यह ठीक है कि आज का विज्ञान केवल कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, विटामिन और वसा आदि से ही भोजन का विश्लेषण करता है। परन्तु आयुर्वेद में भोजन के और भी प्रकार किए गए हैं। आयुर्वेद के अनुसार शरीर तीन दोषों– वात, पित्त और कफ– से बना हुआ है। भोजन की विभिन्न सामग्रियों से वात, पित्त और कफ पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग दोष प्रभावी होते हैं। यदि कोई पित्त-प्रभाव का व्यक्ति अधिक तैलीय और मसालेदार भोजन करेगा, तो उसे अम्लपित्त यानी एसिडिटी की शिक़ायत हो जाएगी। परन्तु कोई कफ प्रभाव का व्यक्ति तैलीय और मसालेदार भोजन करेगा, तो उसे कुछ नहीं होगा। इसलिए स्वस्थ रहने के लिए इनकी जानकारी भी काफ़ी आवश्यक है। यह तो प्रत्यक्ष देखा जा

सकता है कि केवल प्रोटीन, विटामिन और वसा आदि के आधार पर भोजन की जानकारी से लोगों को भोजन कराने पर लाभ के बजाय नुक़सान हो सकता है। एकदम पतले-दुबले व्यक्ति को वसायुक्त सामग्री आधुनिक विज्ञान के अनुसार लाभकारी ही रहेगी, परन्तु यदि वह व्यक्ति पित्तप्रधान हो तो उसे इससे काफ़ी नुक़सान होगा। इसके अतिरिक्त भोजन के पदार्थों को लेने के तरीक़ों से भी मनुष्य के स्वास्थ्य पर असर पड़ता है, जिससे आधुनिक भोजनविज्ञानी पूरी तरह अनभिज्ञ हैं। वास्तव में देखा जाए तो वर्तमान में हृदयरोग, रक्तचाप, मधुमेह, मोटापा से लेकर कैंसर आदि जितनी भी जीवनशैलीजन्य बीमारियाँ फैल रही हैं, उसका मूल कारण भोजन का यह अविज्ञान ही है। आयुर्वेदीय भोजनविज्ञान की जानकारी बच्चों को प्रारम्भ से ही इन रोगों से बचा सकती है।

भोजन में छह रस होते हैं। आधुनिक विज्ञान अभी चार रसों की ही जानकारी कर सका है। बच्चों को इन छह रसों– मधुर, लवण, क्षार, कटु, तिक्त, कषाय– की भी जानकारी दी जानी चाहिए। इन छह रसों के मनुष्य स्वास्थ्य में भूमिका भी बच्चों को बताई जा सकती है। भोजन का कौन-सा पदार्थ किस रस का है, इसे भी उदाहरण देकर बताया जाना चाहिए। भोजन में इन छह रसों को भारतीय परम्परा कैसे शामिल करती है, इसे भी समझाया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए बंगाल में बननेवाली शूक्तो की सब्जी और दक्षिण भारत में बननेवाले सांभर को बताया जा सकता है। इन दोनों में ही कड़वे रस की सब्जियों का प्रयोग किया जाता है। भोजन का यह विज्ञान भी आधुनिक भोजनविज्ञानियों को ज्ञात नहीं है।

भोजन के घटकों को पहचानने के लिए पुस्तक में जो प्रयोग दिए गए हैं, उनमें आयोडीन के घोल, कॉपर सल्फेट का घोल, आदि रसायनों की आवश्यकता पड़ती है। ये पदार्थ घरों में उपलब्ध नहीं होते। इसलिए बच्चे ये प्रयोग साधारणतः करने में असमर्थ ही होते हैं। इसके बजाय हम बच्चों से अधिक प्रत्यक्ष और घरों में मिलनेवाले पदार्थों के प्रयोग और क्रियाकलाप बताएँगे, तो वे उसे सरलता से कर पाएँगे। दूध से दही बनने और उस दही से मक्खन और घी निकलने का प्रयोग बच्चों को बताया जाना चाहिए। हैरानी की बात यह है कि पुस्तक में दूध को केवल प्रोटीन का स्रोत बताया गया है, जोकि एक अधूरी जानकारी है। दूध वसा का भी एक प्रमुख स्रोत है। इसे हम मक्खन और घी के प्रयोग से अच्छी तरह समझा सकते हैं। लौकी को पकाते समय उसमें पानी के आने से यह बताया जा सकता है कि खाद्य-पदार्थों में पानी का अंश होता है। विभिन्न सब्जियाँ, पकाने के क्रम में थोड़ा-बहुत पानी छोड़ती ही हैं, यह बच्चे घरों में प्रत्यक्ष प्रयोग करके देख सकते हैं। इससे अधिक प्रयोग करने की उन्हें आवश्यकता नहीं है।

संतुलित आहार की जानकारी देते समय एक बार फिर से भाषा और तथ्य– दोनों ही काफ़ी भावशून्य हो गए हैं। उदाहरण के लिए पुस्तक में लिखा है–

'बूझो ने सोचा कि हर समय वसायुक्त खाना ही सर्वोत्तम भोजन है। एक कटोरी कार्बोहाइड्रेटयुक्त भोजन की अपेक्षा एक कटोरी वसायुक्त भोजन अधिक ऊर्जा देगा। क्या ऐसा नहीं होता? अतः उसने तली हुई चीजें समोसा, पूरी, मलाई, रबड़ी, पेड़ा आदि प्रचुर वसायुक्त भोजन ही खाया और इसके अलावा कुछ नहीं खाया। क्या आप सोचते हैं कि वह ठीक था?'

उपर्युक्त उदाहरण को यदि इस प्रकार लिखा जाता तो यह अधिक उपयुक्त होता– 'बूझो को हर समय तला-छना भोजन खाना ही पसन्द था। समोसे, कचौड़ी, रबड़ी उसे बहुत स्वादिष्ट लगते थे, परंतु रोटी, फल आदि उसे अच्छा नहीं लगता था। क्या ऐसा खाना उचित था?'

वास्तव में देखा जाए तो कोई भी व्यक्ति खाने खाते समय यह नहीं सोचता कि वह वसा खा रहा है या कार्बोहाइड्रेट। परन्तु सभी लोग खाना खाते समय यही सोचते हैं कि यह कितना स्वादिष्ट है। इसलिए

यह पुस्तक सामान्य मनोविज्ञान का भी ध्यान नहीं रखती। यदि हम बच्चों को यह बताएँ कि स्वाद के अनुसार नहीं, बल्कि स्वास्थ्य के बारे में सोचकर खाएँ, तो अधिक लाभकारी होगा। इसके लिए स्थानीय कहावतें भी बताई जा सकती हैं। ऐसी ही एक कहावत है– 'जीभ कहे, वाह, मज़ा आ गया, गला पूछे, क्या है, पेट बोले, कुछ नहीं। ऐसी कहावतें बच्चों को मनोरञ्जक भी लगेंगी और उनकी जानकारी और समझ भी बढ़ाएँगी।

पुस्तक में भोजन के जो घटक बताए गए हैं, उनकी जानकारी केवल संक्षेप में देना पर्याप्त होता। उसके स्थान पर विरुद्ध आहार, प्रकृति और ऋतु-अनुसार आहार, आहार का वात, पित्त, कफ के अनुसार जानकारी देना अधिक लाभकारी होता। भोजन की उपयोगिता की जानकारी से बच्चे समझदारीपूर्वक भोजन करना सीखेंगे, जिससे वे स्वस्थ रहेंगे। यही विज्ञान का उद्देश्य भी है। इसलिए इन दो अध्यायों का नाम होना चाहिए था– 1. हम भोजन क्यों करते हैं, 2. भोजन और हमारा स्वास्थ्य। इसके बाद हम तैत्तिरियोपनिषद् के **अन्नं बहुकुर्वीत्, अन्नं वै ब्रह्म** आदि उद्धरणों से बच्चों को भोजन को बर्बाद न करने, भूखों को भोजन कराने तथा अधिक अन्न उपजाने आदि की प्रेरणा दे सकते हैं।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ :

1. विज्ञान पुस्तक, कक्षा छह, पृ. 7
2. छांदग्योपनिषद् 6.7, छांदग्योपनिषद की इस कथा में श्वेतकेतु को उसके पिता ने 15 दिनों तक भोजन न करने का निर्देश दिया और कहा कि वह इन दिनों में केवल पानी पीये। 16वें दिन श्वेतकेतु के पिता आरुणि ने उसे कहा कि अब वह वेदपाठ करके सुनाए। श्वेतकेतु ने कहा कि उसे कुछ भी स्मरण नहीं आ रहा है। इस पर आरुणि ने उसे भोजन करके आने के लिए कहा। भोजन करने के बाद श्वेतकेतु ने, जो जो पूछा गया, वह सब सुना दिया। इस उदाहरण से आरुणि ने श्वेतकेतु को अन्न एवं भोजन का महत्त्व बताया।
3. छांदग्योपनिषद्

❖❖❖

ललितादित्य : एक सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट्

विगत 14 सितम्बर, 2019, दिन शनिवार को सभ्यता अध्ययन केन्द्र द्वारा जम्मू-कश्मीर अध्ययन केन्द्र, दिल्ली के संयुक्त तत्त्वाधान में भारतीय अनुसंधान परिषद् (आईसीएचआर), दिल्ली में विश्वविजेता सम्राट् ललितादित्य मुक्तापीड विषय पर एकदिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संगोष्ठी में देशभर से ललितादित्य और कश्मीर के विषय के अध्येता एकत्र हुए थे।

कश्मीर का आविष्कार है चाय की केतली

सम्राट ललितादित्य के विषय में गहन अध्ययन करनेवाले इतिहासविद् तथा सभ्यता अध्ययन केन्द्र के शोध सह निदेशक **डॉ. विवेक भटनागर** ने कहा कि भारतीय इतिहास में सम्राट् अशोक के बाद ललितादित्य को सबसे बड़ा सम्राट् कहा जाना चाहिए। अशोक ने सबसे पहले टाइल्ड लेक (जैसे जूनागढ़) बनवाए। उसके बाद फिर ललितादित्य ने ही ऐसे झील बनवाए। राजततरंगिणी में कल्हण के अनुसार कश्मीर का शाब्दिक अर्थ होता है– **का = पानी और शमीरा = जल को बहाकर खाली किया गया क्षेत्र**। उन्होंने कहा कि झेलम नदी के किनारे बीजबेहरा शहर बनाया गया, जिसमें हाइड्रोलिक प्रेशर के जरिए पानी निकालकर नगर में जलापूर्ति की जाती थी। इसे 'चक्रधारा' कहा जाता था।

डॉ. भटनागर ने कहा कि कश्मीर की भारत और विश्व को कई उल्लेखनीय देन हैं जिनके बारे में अन्य स्थानों का होने का विभ्रम फैलाया गया है। उदाहरण के लिए समावार अर्थात् चाय को गर्म रखनेवाली केटली वास्तव में कश्मीर की देन है, लेकिन फर्ज़ी इतिहास में समावार को चीन की खोज बताया दिया गया है। अधिक ठण्ढ से भोजन पचाने में कठिनाई होती है, इसके समाधान के लिए खमीर उठाकर रोटी बनाने का तरीक़ा कश्मीर में शुरू हुआ।

उन्होंने कहा कि कश्मीर को राज्य की तरह और विषय की तरह पढ़ाना होगा। अगर चीन तथा मिडिल ईस्ट को पढ़ना है, तब भी कश्मीर को पढ़ना होगा। भारत की रक्षा करनी है तो कश्मीर पर अधिकार रखना ही होगा। कश्मीर का महत्त्व देखते हुए यहाँ से गुजरनेवाले रास्ते को 18वीं शताब्दी में 'सिल्क रूट' का नाम दिया, वास्तव में सिल्क रूट कोई रास्ता है ही नहीं। यह एक विशाल क्षेत्र है, एक राज्यक्षेत्र है, व्यापार का केन्द्र है। चंगेज़ ख़ान के बाद ख़लीफा का अस्तित्व शून्य हो गया। 'गजवा-ए-हिंद' की अवधारणा 702 में एक ख़लीफा ने दी थी, जिसे आज आतंकवादी संगठन आईएसआईएस खुरासान मॉडल के रूप में अपना रहा है। सिल्क रूट एक कल्चर है। रेशम भारत में चीन से आया, लेकिन रेशम को बुनने का काम तो भारत में ही होता था।

कश्मीर की बौद्धिक-सांस्कृतिक थाती का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि कश्मीर का स्वरूप शिव के समान है, सभी पहाड़ियाँ सफेद हैं और उनसे गंगा निकलती है। विद्या की देवी शारदा है, शिक्षा का सबसे बड़ा पीठ शारदा पीठ। हेमचन्द्र सूरी द्वारा लिखित पुस्तक 'हेमसिद्ध शब्दानुशासन', पाणिनि द्वारा संस्कृत-व्याकरण के लिए लिखे गए आठ ग्रन्थों का सन्दर्भ लेकर तैयार की गई। शालीमार

बाग़ का निर्माण चौथी शताब्दी में राणादित्य ने कराया। मार्त्तण्ड-भैरव का एकमात्र मन्दिर, जिसके सभामण्डप में दो नाट्यमण्डप हैं, इस मन्दिर की छत तोड़ने में 6 महीने लग गए। अल-बिरूनी ने लिखा– मार्तण्ड मन्दिर के पास अंगूरों की खेती होती है।

उत्तर से दक्षिण आकर जीतनेवाले एकमात्र राजा ललितादित्य हैं। उन्होंने स्थापत्यकला और संस्कृति के क्षेत्र में भी बहुत-से उल्लेखनीय कार्य किए। उन्होंने सहिष्णुपुरा मन्दिर बनवाया, जिसमें प्रतिदिन 1 लाख लोगों के भोजन करने का प्रबन्ध था (अल-बिरूनी)। ललितादित्य ने 840 किलो सोने से मुक्तिकेश्वर की मूर्ति बनवायी। और भी ऐसी अनेक मूर्तियाँ बनवायीं। स्वयं वैष्णव होते हुए भी शैव और बौद्ध परम्परा को भी उतना ही सम्मान दिया। काशीप्रसाद जायसवाल ने भी लिखा है कि ललितादित्य का योगदान स्थापत्य, साहित्य, संस्कृति, सर्वांगीण विकास के क्षेत्र में बहुत बड़ा है, जिसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

भारत की एकता के संवाहक ललितादित्य

वरिष्ठ पत्रकार पद्मश्री जवाहरलाल कौल ने कहा कि आज यह प्रासंगिक प्रश्न है कि ललितादित्य ही क्यों? भारत में चारों ओर जब शक्तिशाली राजवंश बन और टूट रहे थे, ऐसे समय में ललितादित्य का उदय हुआ। भारत के राजाओं की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह रही कि उनके राज्य के बाहर क्या हो रहा है, इस बारे में सचेत नहीं रहते थे। मुहम्मद-बिन-क़ासिम को बगदाद के ख़लीफाओं ने भारत पर हमला करने भेजा था। राजा दाहिर यह नहीं समझ पाये कि यह अंतरराष्ट्रीय गिरोहबंदी है, उन्होंने भारत के किसी राजा से सहायता भी नहीं मांगी और हार गए। ललितादित्य वैष्णव थे, विष्णु के पूजक थे, लेकिन उन्होंने सुनिश्चित किया कि दूसरे पंथों के साथ कोई झगड़ा नहीं होना चाहिए (इसके पहले यह काम अशोक ने भी किया था)। ललितादित्य एक महान् नेता, सैनिक, बुद्धिजीवी, पूरे देश को राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से एकसूत्र में गूँथनेवाले दूरद्रष्टा थे। भारत का इतिहास अभी तक भारत की दृष्टि से लिखा ही नहीं गया, इसलिए ललितादित्य का विषय गौण है।

स्मृति-संरक्षण की जगह स्मृति-क्षरण का काम किया इतिहास ने

इतिहासविद प्रो. रजनीश मिश्र ने कहा कि इतिहास का प्रयोजन है लोगों की स्मृति की रक्षा करना, जो कुछ घटित हुआ है, उसका संरक्षण करना; लेकिन जो इतिहास हमें पढ़ाया गया है, उससे स्मृतिहीनता आई है, इसने मेमोरी इरेजर की तरह काम किया है। इस ग़लत इतिहास को हमें मज़बूरी में स्वीकारना पड़ा, जिसे भारत की शिक्षा-प्रणाली में प्राथमिक शिक्षा से ही लागू कर दिया गया। इस ग़लत इतिहास को विस्थापित करने का समय आ गया है। ललितादित्य के इतिहास को प्राथमिक कक्षाओं से ही उचित स्थान मिले, व्यवस्थित पाठ्यक्रम का निर्माण हो और अत्याचारियों को महिमामण्डित करने का काम बंद हो। सभी तथ्यों को हम सप्रमाण प्रस्तुत करें। जेएनयू का एक प्रोफेसर विदेशों में भारत के बारे में ग़लत जानकारी पेश करता है। प्रो. रजनीश मिश्र ने कश्मीर के इतिहास पर संस्कृत में एक पुस्तक दिखाई, जिसका अनुवाद करने की आवश्यकता है। राजशेखर (9वीं शताब्दी) के एक ग्रंथ की भी चर्चा उन्होंने की। भारत सदैव सांस्कृतिक रूप से एक चक्रवर्ती क्षेत्र रहा है। हमारा इतिहास मिथ्यापरक नहीं है, हमने अपने इतिहास को पश्चिमी संकल्पना से पढ़ा। ललितादित्य ने यशोवर्मन को पराजित किया, अपमानित नहीं किया।

जम्मू कश्मीर अध्ययन केन्द्र के निदेशक श्री आशुतोष भटनागर का कहना है कि सिंधु नदी भारत में भी 450 किलोमीटर बहती है, लेकिन इसे हमारे इतिहास और स्मृति से लोप कर दिया गया है।

(इस सिंधु के नाम से प्रायः पाकिस्तान का सन्दर्भ दे दिया जाता है)। कश्मीर से जुड़े ऐसे ही अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों और इतिहास को हमारी स्मृति से गायब कर दिया गया है। उन्होंने कहा अशोक ने समझा था कि जब तक हिंदूकुश पर हमारा शासन नहीं है, तब तक भारत सुरक्षित नहीं है, इसलिए हिंदूकुश पर शासन चाहिए। आज कश्मीर की 1,21,000 वर्गकिमी भूमि पाकिस्तान के कब्ज़े में है, वह वापस मिलनी चाहिए। गिलगिट भी हमें चाहिए। हमें पता होना चाहिए कि पाक अधिकृत कश्मीर के कौन-कौन से शहर हमारे पास होने चाहिए। पीओके एक राजनीतिक नारा है। जब देश खड़ा हो जाता है, तब सरकार को भी खड़ा होना पड़ता है और वही करना पड़ता है जो देश चाहता है। आज देश कश्मीर के ये हिस्से वापस चाहता है।

ललितादित्य पर बनना चाहिए संग्रहालय

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त आचार्य **प्रो. दीनबन्धु पाण्डेय** ने अपने समापन भाषण में कहा कि केवल ललितादित्य पर हमें एक आर्काइव/म्यूजियम बनाने की आवश्यकता है जिससे कि उनके बारे में अज्ञात या ग़लत रूप में ज्ञात तथ्यों की जानकारी ठीक से हो सके। नेट पर प्रकाशित भ्रामक तथ्यों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि विकिपीडिया में ललितादित्य के बारे में ग़लत लिखा है। 'पीड़' शब्द नहीं है, 'पीड' है। मुक्तापीड का अर्थ है 'मुकुट', जिसमें हीरे, जवाहरात, इत्यादि जड़े हों। इतिहास निकालने के लिए साहित्य के अन्दर भी जाना पड़ता है; कभी अलंकार, कभी छन्द की भी थाह लेनी पड़ती है। ललितादित्य ने लगभग 37 वर्ष राज्य किया, क्या उसने एक भी सिक्का जारी नहीं किया? इन सवालों का ज़वाब हमें खोजना है। पुराने फोटोग्राफ, सन्दर्भ, इत्यादि से एक प्रतिकृति (रेप्लिका) बना सकते हैं, संग्रहालय बनाने के लिए हमारी प्रतिबद्धता होनी चाहिए।

प्रो. पाण्डेय ने कहा मैं अभी सैरंध्री पर काम कर रहा हूँ। हमारे शासकों ने अफ़ग़ानिस्तान को हमेशा कब्ज़े में रखने का काम किया। पूरे मध्य एशिया में हूण पराजित हुए हैं। कल्हण की राजतरंगिणी में सम्राट् ललितादित्य के लिए 'सार्वभौम' और 'चक्रवर्ती' शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'चक्रवर्ती' का अर्थ है जिसके रथ का पहिया कहीं नहीं रुकता। प्रो. पाण्डेय ने कहा कि सिल्क यानी रेशम कभी विदेशियों का वस्त्र नहीं था, यह हमारा वस्त्र था। ऐसे में रेशम-मार्ग किसी और देश का कैसे हो सकता है। उन्होंने बताया कि कार्कोट वंश नागों का वंश, कायस्थों का वंश है। कायस्थ मतलब प्रशासन के लोग। उन्होंने कहा कि ललितादित्य मुक्तापीड का अर्थ है आकाश में सूर्य की तरह चमकता हुआ। इतिहास लिखते समय क्या-क्या सावधानियाँ बरतनी चाहिए, इसके बारे में प्रो. पाण्डेय ने बहुत विस्तार से बताया और समझाया। उन्होंने कहा कि सिद्धमातृका-लिपि का एक संस्करण है शारदा-लिपि। छठी शताब्दी में गजनी का पहला शासक हिंदू था, गजनी हमारा राज्य रहा है। गिलगित में भी हिंदू राजा हुए हैं। इन तथ्यों को खंगालने की ज़रूरत है।

दीर्घकालिक विमर्श की आवश्यकता

संगोष्ठी का संचालन करते हुए सभ्यता अध्ययन केन्द्र के निदेशक श्री रवि शंकर ने कहा कि ललितादित्य का इतिहास वर्तमान भारतीय इतिहास की अनेक प्रचलित मिथकों को तोड़ता है। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि भारत ने कभी भी किसी पर आक्रमण नहीं किया, हमने हमेशा केवल अपना बचाव किया है। यह एक महान् झूठ है जो कि भारत की विजिगीषु-वृत्ति को दबाने और छिपाने के लिए बोला जाता है। सम्राट् ललितादित्य ने भारत की परम्परागत सीमाओं से बाहर जाकर लड़ाइयाँ लड़ीं, विजय प्राप्त की और भारत की सीमाओं का विस्तार किया। दूसरा मिथक फैलाया जाता है कि मुसलमान आक्रांता हमेशा राजा

दाहिर से लेकर पृथिवीराज, राणा सांगा आदि भारत के राजाओं को हराते रहे हैं। सम्राट् ललितादित्य ने मुस्लिम आक्रांताओं को इस क़दर पराजित किया था कि 3 शताब्दियों तक भारत की ओर आने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। सम्राट् ललितादित्य के इतिहास के अध्ययन से इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझेंगी। उन्होंने कहा कि विश्व की भारतीय संकल्पना को ध्यान में रखें, तो ललितादित्य को 'विश्वविजेता' कहना ग़लत हो जाएगा, परन्तु यूरोपीय आधारों पर उन्हें विश्वविजेता कहना ग़लत नहीं है। उन्होंने कहा कि सम्राट् ललितादित्य पर लम्बे विमर्श की आवश्यकता है और इसलिए सभ्यता अध्ययन केन्द्र उन पर एक राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठी के आयोजन की योजना बना रहा है।

इस संगोष्ठी में प्रसिद्ध अंतरिक्षविज्ञानी तथा भारतविद् डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय, दिल्ली विश्वविद्यालय में बिजेनस एण्ड इकोनमी के डीन तथा सिल्क रूट विषय के विशेषज्ञ डॉ. वी.के. कौल, प्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ. भगवान सिंह सहित अनेक विद्वान् उपस्थित थे।

■ राजकिशोर सिन्हा

सभ्यता-संवाद

<u>सदस्यता-प्रपत्र</u>

मेरी प्रति कुरियर ☐ रजिस्टर्ड डाक ☐ द्वारा इस पते पर प्रेषित की जाए :

नाम ....

पता...

....पिन ☐☐☐☐☐☐

दूरभाष/मोबाइल...

ई-मेल...

- **सदस्यता-शुल्क :**

व्यक्तिगत : वार्षिक सदस्यता-शुल्क ₹500/- ☐ 5-वर्षीय सदस्यता-शुल्क ₹2500/- ☐

संस्थागत : वार्षिक सदस्यता-शुल्क ₹1000/- ☐ 5-वर्षीय सदस्यता-शुल्क ₹5000/- ☐

संलग्न मनिऑर्डर ☐ चेक ☐ डिमाण्ड ड्राफ्ट ☐

चेक/ड्राफ्ट-क्रमांक.................... बैंक का नाम................ शाखा............दिनांक............

चेक द्वारा ऑनलाइन भुगतान कर सकते हैं :

Centre for Civilisational Studies
Bank Name : ICICI
A/c No. 022705001874
IFSC Code : ICIC0000227

हस्ताक्षर एवं दिनांक

लेखकों से निवेदन

'सभ्यता-संवाद' एक त्रैमासिक शोध-पत्रिका है। इसमें हिंदी-भाषा में उच्च कोटि के अनुसन्धानात्मक, आलोचनात्मक तथा समीक्षात्मक शोध-निबन्ध प्रकाशित किए जाते हैं। लेख प्रेषित करने से पूर्व निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :

- कृपया मौलिक, अप्रकाशित, अप्रसारित निबन्ध भेजें। आपका लेख पहले से वेब पर किसी भी वेबसाइट या ब्लॉग आदि में प्रकाशित नहीं होना चाहिये। निबन्ध के शीर्षक के ऊपर 'मौलिक एवम् अप्रकाशित' अवश्य लिखें।
- 'सभ्यता-संवाद' के लिए भेजे जानेवाले निबन्ध 2,500 शब्दों से कम न हों, अधिकतम शब्द सीमा 5,000 है। 'व्यक्तित्व' स्तम्भ के लिए भेजे जानेवाला लेख 2,000 शब्दों से अधिक का न हो।
- कृपया अपने लेख में 'सन्दर्भ' अंकित करने के मानकों का पालन करें। सन्दर्भ देते समय पुस्तक/पत्रिका का नाम, लेखक/सम्पादक का नाम, प्रकाशक का नाम-स्थान, प्रकाशन-वर्ष का उल्लेख होना आवश्यक है।
- पत्रिका के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए आपके लेख का शीर्षक बदलने, वाक्यांशों, अनुच्छेदों में परिवर्तन करने अथवा इसमें सम्पादन करने का अधिकार सम्पादक-मण्डल के पास है।
- आपके शोध-निबन्ध को पत्रिका में प्रकाशित करने या न करने के बारे में अन्तिम निर्णय सम्पादक-मण्डल का ही होगा। स्वीकृत रचनाओं के प्रकाशन में एक से तीन अंकों तक का समय लग सकता है। अस्वीकृत रचनाओं के विषय में पत्र-व्यवहार नहीं किया जाता।
- कृपया अपना निबन्ध यथासम्भवव टंकित करके अथवा सुपाठ्य अक्षरों में हस्तलिखित शोधपत्र **रवि शंकर, सम्पादक, सभ्यता-संवाद, बी 14, गली-नं. 13, वज़ीराबाद गाँव,** दिल्ली-110084 पते पर प्रेषित करें। सॉफ़्ट कॉपी **sabhyatasamvad@gmail.com** पर ई-मेल अवश्य करें। सॉफ़्ट कॉपी में लेख 'मंगल' (यूनीकोड) अथवा 'कृतिदेव 010' फॉण्ट में टाइप किया हुआ होना चाहिए।
- कहानी, लघुकथा, कविताएँ, प्रहसन, प्रेरक-प्रसंग, संस्मरण, हास्य-व्यंग्य, आत्मकथा, डायरी, आलोचना, यात्रा-वृत्तान्त न भेजें।
- 'पुस्तक-समीक्षा' के लिए पुस्तक की 2 प्रतियाँ भेजना अनिवार्य है। पुस्तक की समीक्षा, पत्रिका द्वारा अपने स्तर पर करवाकर प्रकाशित की जायेगी, अतः समीक्षा साथ न भेजें। पुस्तक-समीक्षा के लिए पत्रिका के अगले दो अंकों से पूर्व पत्र-व्यवहार न करें।
- प्रथम बार लेख भेजनेवाले लेखक कृपया अपना पूरा परिचय एवं चित्र भी संलग्न करें।

वर्ष 1 ▪ अंक 4 ▪ आश्विन-कार्तिक-मार्गशीर्ष, 5121 कलि. ▪ अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर, 2019 ई.

सभ्यता अध्ययन केन्द्र

Centre for Civilisational Studies

बी 14, गली-नं. 13, वज़ीराबाद गाँव, दिल्ली-110 084

दूरभाष : 9899588033, 9654669293

sabhyatasamvad@gmail.com www.civilisationalstudies.org

https://www.facebook.com/sabhyatasamvad/